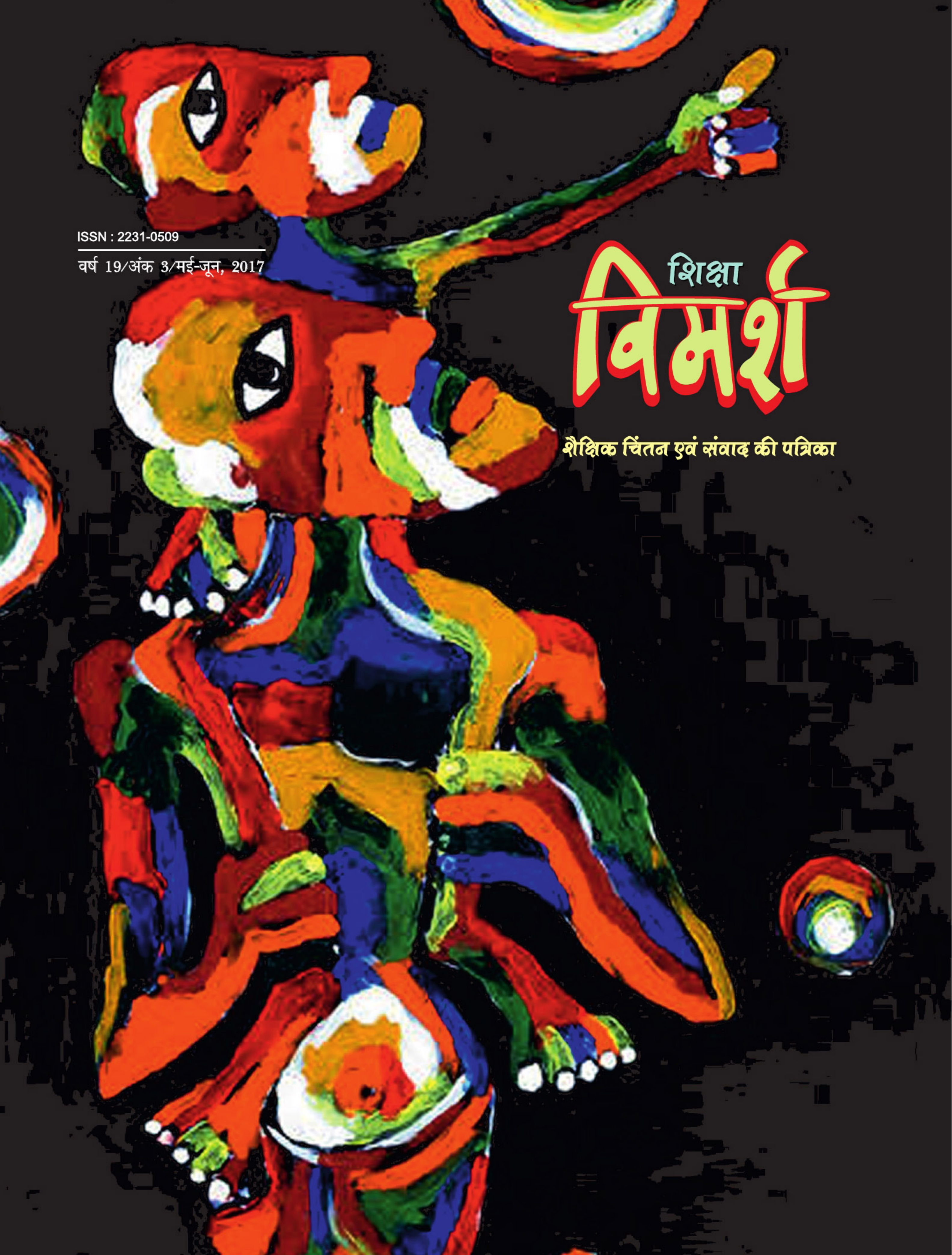

ISSN : 2231-0509

वर्ष 19/अंक 3/मई-जून, 2017

शिक्षा विमर्श

शैक्षिक चिंतन एवं संवाद की पत्रिका

टाटा एजुकेशन ट्रस्ट, मुम्बई के सहयोग से प्रकाशित

शिक्षा विमर्श

शैक्षिक चिंतन एवं संवाद की पत्रिका

वर्ष 19/अंक 3/मई-जून, 2017

प्रधान संपादक रोहित धनकर
संपादक प्रमोद
प्रबंधक रीना दास
कला पक्ष रामकिशन अडिग
कम्प्यूटर/प्रसार प्रबंधन ख्यालीराम स्वामी

संपर्क
शिक्षा विमर्श
दिगन्तर, खो नागोरियान रोड,
जगतपुरा, जयपुर-302017 राजस्थान
फोन : (0141) 2750310
मोबाईल नं. 9214181380 (प्रसार प्रबंधक)
ई मेलः shikshavimarsh@gmail.com
वेबसाइटः www.digantar.org

सदस्यता राशि

	व्यक्तिगत	संस्थागत
एक प्रति	55	80
वार्षिक	**300**	**450**
द्वि-वर्षीय	550	850
तीन-वर्षीय	750	1200
आजीवन	3000	4500

(ऑनलाईन राशि भेजने के लिए www.digantar.org देखें)

'शिक्षा विमर्श' के लिए सभी भुगतान 'दिगन्तर शिक्षा एवं खेलकूद समिति, जयपुर' (Digantar Shiksha Evam Khelkud Samiti, Jaipur) के नाम देय मनीऑर्डर, डिमांड ड्राफ्ट अथवा चैक द्वारा किया जाए।

इस पत्रिका में व्यक्त विचार लेखकों के हैं।
दिगन्तर की इन विचारों से सहमति हो यह जरूरी नहीं है।

अनुक्रम

संपादकीय 3
❑ प्रमोद

शिक्षा का दर्शनशास्त्र

सिखाना और सीखना-I: ज्ञान और कल्पना 5
❑ क्रिस्टोफर विंच और जॉन गिंगेल

चेतना के विस्तार के रूप में शिक्षा 14
❑ रोहित धनकर

शिक्षा का समाजशास्त्र

शिक्षा के समाजशास्त्रीय सिद्धांत-I: फंक्शनलिज्म (प्रकार्यवाद) 17
❑ अमन मदान

लेख

ज्ञान और शिक्षा की राजनीति 25
❑ यमुना सनी

अनुभव

अध्यापक शिक्षक की डायरी-III
कविता को आगे बढ़ाना 33
❑ रविकांत

लेख

सतत एवं व्यापक मूल्यांकनः हौव्वा तो नहीं? 38
❑ कालूराम शर्मा

पुस्तक समीक्षा

बाल साहित्यः इधर के दृश्य 44
❑ पल्लव

मुख्य आवरण चित्रः लोकेश कुमार
अन्तिम आवरण चित्रः अनुराधा, उम्र 14 वर्ष

दिगन्तर शिक्षा एवं खेलकूद समिति, जयपुर के लिए सुश्री रीना दास द्वारा भालोटिया प्रिन्टर्स, 1/398 पारीक कॉलेज रोड, जयपुर-302006 से मुद्रित एवं दिगन्तर, खो नागोरियान रोड, जगतपुरा, जयपुर-302017 से प्रकाशित

आज हम जिस उथल-पुथल से गुजर रहे हैं उसमें लगता है हमारे पास कबीर नहीं होते तो हम किससे उम्मीद करते कि वह बीच बाजार खड़ा हो कह सके-

कांकर पाथर जोरि कै मस्जिद लई चुनाय। ता चढि मुल्ला बांग दे क्या बहरा हुआ खुदाय।।
पाहन पूजै हरि मिले, तो मैं पूजूं पहार। ताते यह चाकी भली, पीस खाए संसार।।
मूंड मुंडाय हरि मिले, सब कोई लेहि मुंडाय। बार बार के मूंडते, भेड़ ना बैकुंठ जाए।।
तन को जोगी सब करै, मन को करै ना कोय। सहजये सब सिधि पाइए, जो मन जोगी होय।।

शिक्षा का एक मतलब अगर आलोचनात्मक नज़रिया विकसित करना है तो उस मायने में कबीर शिक्षितों से भी शिक्षित हैं। वे अपने एक हाथ में आलोचना का चाकू लिए इस समाज की सर्जरी करते रहते हैं। उनके पास आलोचना का एक आइना है जिसे हर समय समाज की शक्ल के आगे किए रहते हैं और उसे उसकी विद्रूपता दिखाते रहते हैं। हम खुशनसीब हैं कि वे हमारे पास इतनी शताब्दियों से हैं। मगर आज जैसे उनकी सबसे ज्यादा जरूरत महसूस हो रही है। वे इन दिनों इतने प्रासंगिक हो गए हैं कि आज सबसे ज्यादा याद आ रहे हैं। सवाल यह है कि कबीर यह साहस कहां से जुटाते हैं और इसकी पहचान किस तरह कर पाते हैं कि क्या सही है और क्या गलत। यानी सवाल सही-गलत पहचानने व उसे कहने के नैतिक साहस का है।

हम मनुष्य हैं और मनुष्य को सब कुछ सीख कर हासिल करना पड़ता है। हमें ध्यान रखना चाहिए कि सिर्फ कहने वाले को ही पहचानना और कहना नहीं सीखना है सुनने वाले को भी सुनना सीखना है। कबीर के समय में आधुनिक शिक्षा प्रणाली नहीं थी। उन्होंने अपनी सामाजिक परिस्थितियों में जीवन के अनुभव हासिल करते हुए सीखा होगा। आज हमारे पास बाकायदा शिक्षा व्यवस्था मौजूद है। वे किसी ऐसे लोकतांत्रिक सामाज में नहीं रह रहे थे जिसमें व्यक्ति को अभिव्यक्ति की आजादी हो। उसकी इस आजादी की रक्षा की गारंटी कोई संविधान देता हो। फिर भी वे पहचान कर कहने का खतरा उठाते हैं इसीलिए आज तक प्रासंगिक बने हुए हैं। हमारे सामने आज संविधान है, उसमें दी गई अभिव्यक्ति की आजादी है उसके बावजूद आज यह कहना जान दांव पर लगाने जैसे जोखिम से भरा महसूस हो रहा है। इसका मतलब साफ है कहीं गड़बड़ी बहुत गहरे स्तर पर है। यह गड़बड़ी हमारी शिक्षा व्यवस्था के असफल हो जाने के खतरनाक संकेत से भरी है।

शिक्षा के बारे में कहा जाता है कि वह अपने आप में कोई ऐसी निरपेक्ष चीज नहीं है कि बस चाहा और हो जाएगी। वह खुद एक दुधारी तलवार है और निर्भर करता है कि उसका इस्तेमाल किस तरह किया जा रहा है। शिक्षा सामाजिक पुनरुत्पादन का औजार भी बन सकती है तो बदलावकारी भूमिका भी निभा सकती है। आज हमारी शिक्षा पाठ्यपुस्तक केन्द्रित है यह ज्ञान की उसी ब्राह्मणवादी अवधारणा के साथ संगति है जिसमें ज्ञान का कर्म के साथ कोई रिश्ता नहीं है वह केवल सिद्धांत की चीज है। ज्ञान की ऐसी अवधारणा से वे वर्ग और जातियां वंचित रह जाती हैं जिनका जीवन श्रम आधारित है और जो समाज में उत्पादक कामों से जुड़ी हैं। हमारी देश की आबादी का लगभग अस्सी फीसदी हिस्सा इन्हीं वर्गों व जातियों से मिलकर बनता है। ये वे लोग हैं जो कौशल आधारित कामों में संलग्न हैं। इस तरह ज्ञान की यह पाठ्यपुस्तक आधारित धारणा इस बड़ी आबादी के ज्ञान की वैधता को खारिज करने का काम अप्रत्यक्ष रूप से करती है। उनके अनुभव, उनके कामों के विवरण कभी पाठ्यपुस्तकीय ज्ञान का हिस्सा नहीं बन पाते। इस आबादी में भी श्रम का बड़ा हिस्सा स्त्रियों के हिस्से आता है। यानी हम अपनी बड़ी स्त्री आबादी के ज्ञान की उपेक्षा कर रहे होते हैं। हम चाहें तो इसमें महिलाओं, दलितों और पिछड़ी जातियों से जुड़ी शिक्षा संबंधी रूढ़ धारणाओं के मूल को पहचान सकते हैं। उदाहरण के लिए गणित लड़कियों का विषय नहीं है, जैसी धारणा के बनने के पीछे मूल वजह यह हो सकती है कि हमने गणित के लिए हमेशा एक ब्राह्मणवादी, मर्दवादी शिक्षणशास्त्र को तरजीह दी जिसमें स्त्रियों के अनुभव कभी शामिल ही नहीं किए गए। गणित की किताबों के ज्यादातर

उदाहरण बाजार, खरीदारी, खेत, नापतोल जैसी व्यवहारिक समस्याओं से भरे पड़े रहते हैं। उनमें धान रुपाई, अचार बनाने जैसे अनुभव संबंधी उदाहरण न के बराबर जगह पाते हैं।

गांधी ने शिक्षा में बदलावकारी भूमिका देखी थी और नई तालीम की अपनी अवधारणा में काम को पाठ्यचर्या के केन्द्र में लाकर उन्होंने इसके जरिए जाति व्यवस्था को चुनौती देने का काम किया था। गांधी ने हमारे समाज में मौजूद काम और ज्ञान के द्वैत को पहचाना और यह महसूस किया कि यही जातिव्यवस्था के मूल में मौजूद है (भूमि के असमान वितरण से इसका गहरा रिश्ता है)। हमारे लिए बिजली का स्विच ठीक करने वाला अथवा मोची कभी शिक्षित नहीं कहला पाया और शिक्षित इस तरह के कामों को करने में अपनी शान की कमतरी समझता रहा। *''गांधी द्वारा प्रस्तावित नई तालीम या बुनियादी शिक्षा ब्राह्मणवादी व उपनिवेशवादी शिक्षा से महत्वपूर्ण प्रस्थान था, क्योंकि हाथ के उत्पादक काम को स्कूली पाठ्यचर्या के केन्द्र में स्थान देकर इसने उस अन्तर्विरोध (काम और ज्ञान) के सामाने एक चुनौती प्रस्तुत की थी।''* (सारांश, काम व शिक्षा, फोकस समूह आधार प्रत्र, एनसीईआरटी)

श्रम भारतीय समाज की वह कमजोर नस रही है जिस पर हाथ धरते ही जाति का मंडप भरभराकर ढहना शुरू कर देता है। जाति को बनाए रखने के लिए जरूरी है कि श्रम का विभाजन बना रहे और उसके आधार पर कुछ लोग श्रम में जुते रहें और कुछ उनके श्रम पर माल उड़ाएं। श्रम का यह विभाजन काम और ज्ञान के विभाजन के रूप में हमारे सामने उभर कर आता है। और इस आधार पर हम उन लोगों के व्यावहारिक ज्ञान को शिक्षा में आने से रोकते रहे हैं जो श्रम आधारित काम से जुड़े हैं। यह हमारी आबादी का लगभग अस्सी प्रतिशत हिस्सा है। इस तरह हम अपनी आबादी के बड़े हिस्से के अनुभवों को शिक्षा में शामिल होने से रोक देते हैं। गांधी ने नई तालीम के जरिए इसी पर प्रहार करते हुए जाति पर निशाना साधा था। काम और ज्ञान के बीच का यह विरोधाभास हमारी शिक्षा में ज्ञान और कौशलों के बीच की खाई की तरह सामने आता है। जो लोग कुशल हैं उनके कौशलों को शिक्षा में शामिल नहीं किया जाता है और जो शिक्षित हो जाते हैं वे पर्याप्त अकुशल होते हैं।

गांधी की नई तालीम में काम का जो महत्व है वह जाति व्यवस्था के सामने चुनौती प्रस्तुत करता है। हम कल्पना करें कि एक कक्षा के सभी बच्चे रूमाल पर कशीदाकारी में व्यस्त हैं। यह बात एक साथ जाति व लिंग दोनों पर आधारित विभेद पर एक साथ प्रहार करती है। साथ ही इस अनुभव का इस्तेमाल ज्यामिती, विज्ञान, समाजविज्ञान, सौन्दर्य बोध आदि के विकास में किया जा सकता है। बच्चे कशीदाकारी में लगे श्रम के महत्व को समझ रहे होंगे और जान रहे होंगे कि कशीदाकारी का किसी जाति विशेष या लिंग विशेष से कोई लेना-देना नहीं है। और इसे करने से कोई कमतर नहीं हो जाता है।

यही बात हमारे उच्चवर्णीय ब्राह्मणवादी हुक्मरानों को पसंद नहीं आई और इसीलिए गांधी का रोपा यह पौधा एक विशाल वृक्ष का रूप धारण करता उससे पहले ही उसे मटियामेट कर दिया गया। लेकिन उक्त विश्लेषण हमें यह समझने में मदद कर सकता है कि कबीर अपनी दृष्टि कहां से पाते होंगे। वे जुलाहा थे अपने काम ने उन्हें यह नजरिया दिया होगा कि श्रम से दूर रह कर सिर्फ कर्मकांड आधारित ज्ञान सिवाय पाखंड के कुछ और नहीं हो सकता है और इसे बचाने में सिर्फ उन्हीं लोगों का हित है जो दूसरों के श्रम पर पर अपना कारोबार करते रहना चाहते हैं। इस बात की शिनाख्त उन्होंने समाज में मौजूद सभी समुदायों व धर्मों में की होगी। यह साहस भी उन्हें उनके हुनर ने ही दिया होगा कि वे इसे सबके सामने उजागर कर पाए।

हमारे पास अभी भी वक्त है कि हम हमारी शिक्षा में श्रम के महत्व को स्थापित करें। यह बात 'स्किल्ड इंडिया' से बिल्कुल जुदा है। यहां सिर्फ स्किल देने की बात नहीं की जा रही बल्कि यह कहने की कोशिश की जा रही है कि पाठ्यपुस्तकों पर अतिरिक्त केन्द्रीयता को कम करके कौशलों को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया जाए। यह काम को पाठ्यचर्या में शामिल करके किया जा सकता है। काम से मिला अनुभव कौशलों के विकास के साथ-साथ बेहतर सैद्धांतिक समझ बनाने में भी मददगार होगा और समानता आधारित समाज निर्माण की ओर एक कदम होगा। ◆

प्रमोद

सिखाना और सीखना-I

ज्ञान और कल्पना

क्रिस्टोफर विंच और जॉन गिंगेल

यह लेख शिक्षण की प्रकृति पर एक नजर डालने से शुरू होता है और सिखाने तथा सीखने के बीच के रिश्ते पर विचार करता है। तर्क दिया गया है कि यद्यपि यह आशा नहीं की जा सकती कि सिखाने का नतीजा हमेशा सीखना ही होगा, शिक्षकों को यह तो दिखाना ही होता है कि वे विद्यार्थियों के सीखने के संबंध में बेपरवाह या असावधान नहीं रहे हैं। एक अर्थ में, सफलता से सीखने का अर्थ है किसी विशेष विषय के अन्तर्गत जिसे ज्ञान माना जाता है, उसके मानदण्डों पर खरा उतरना। इसका यह अर्थ नहीं है कि सीखने का कोई विस्तारपूर्ण सिद्धांत होना जरूरी है। वास्तव में तो इस बात का ही शक है कि ऐसा कुछ होता भी है कि नहीं। यह समझना भी महत्वपूर्ण है कि सीखने में दोनों बातें शामिल हैं - कुछ विशेष कार्य कर सकने के काबिल बन पाना और तथ्यात्मक जानकारी हासिल कर पाना। आवश्यकता इस बात की है कि इनमें से किसी एक पर जरूरत से अधिक बल दिए बिना, सीखने के व्यावहारिक और गैर-व्यावहारिक पक्षों का सन्तुलन बनाया जाए। शिक्षा का सरोकार कल्पना विकसित करने से भी है। लेकिन इसके लिए सफल होने का सबसे बेहतर तरीका रचनात्मकता की किसी संदेहास्पद क्षमता को बढ़ावा देने का नहीं, बल्कि विद्यार्थियों को यह मौका देने का होगा कि वे व्यापक फैलाव लिए हुए सार्थक, लाभप्रद प्रयासों के तहत व्यक्ति-विशेष की उपलब्धियों में काम करती कल्पना को देख पाएं।

शिक्षण की प्रकृति

शिक्षण और ज्ञानार्जन शैक्षिक उद्यम के केन्द्र में हैं। इसीलिए वे गतिविधियां भी इसके केन्द्र में हैं जिनके बारे में हमें आशा रहती है कि वे हमारी शैक्षणिक संस्थाओं का चरित्र-चित्रण करें। इस बात को मान कर चला जाए तो हम यह भी आशा कर सकते हैं कि शिक्षा-दार्शनिकों ने अपने समय और कौशल का इस्तेमाल इन महत्वपूर्ण अवधारणाओं यानी सिखाने और सीखने, को स्पष्ट करने में लगाया होगा। यह आशा सिखाने के संबंध में तो बहुत हद तक संतुष्ट हो जाती है लेकिन स्पष्ट नहीं है कि हम यह बात सीखने के संबंध में भी कह सकते हैं या नहीं। यह असंतुलन इसलिए और भी अधिक हैरान करने वाला है क्योंकि 'सिखाने' से सम्बन्धित अधिकतर विश्लेषण यह मान कर चलते हैं कि 'सिखाना' और 'सीखना' या कहें तो 'पढ़ाने' और 'सीखने', के बीच एक घनिष्ठ संबंध है, फिर वह चाहे तार्किक हो चाहे न हो।

हम न्यूनतम स्तर के कुछ विवादास्पद बिन्दुओं के साथ स्थिति को खोलने से शुरुआत करते हैं। सिखाने के बारे में सब टिप्पणीकार इस बात पर सहमत प्रतीत होते हैं कि इस शब्द की कोई भी सादा व्यवहारवादी परिभाषा नहीं हो सकती (देखें हर्स्ट 1973; शेफ्लर 1973)। इसका अर्थ यह है कि किसी एक उपयुक्त संदर्भ में कई तरह के व्यवहार को हम सिखाने का हिस्सा मान सकते हैं, जिसमें अपने सिर के बल खड़े होना, खिड़की से बाहर देखना, दीवार की ओर इशारा करना जैसी बातें भी शामिल होंगी। सिखाना पूर्ण तौर पर नहीं तो

केन्द्रीय तौर पर (नीचे देखें) एक उद्देश्यपूर्ण गतिविधि है और इस के उद्देश्य के लिए मददगार या बाधा डालने वाले कई तरह के व्यवहार हो सकते हैं।

दूसरे बिन्दु के तहत यह मान कर चला जाता है कि शिक्षक, शिक्षार्थी और जो सिखाया जाना है उसमें, एक त्रिकोणीय रिश्ता है। यह बात सार्वभौमिक नहीं तो व्यापक स्तर पर तो स्वीकारी ही जाती है। जब हम एक ढीले-ढाले से अन्दाज में किसी के बारे में कहते हैं कि वह ''गणित पढ़ा रही है'' या ''3सी पढ़ा रही है'' तो हम शिक्षण के एक आवश्यक तत्व को छिपा रहे होते हैं। लेकिन क्षण भर के विचार से ही हम देख पाते हैं कि गणित पढ़ाने में किसी को पढ़ाना शामिल है। यानी एक खाली कक्षा में गणित पढ़ा रहे होने की बात निरर्थक होगी। और 3सी पढ़ाने का अर्थ है कि कुछ पढ़ाया जा रहा होगा। कुछ ही समय पहले तक प्रगतिशील या बाल-केन्द्रित शिक्षण का एक मंत्र था कि हम "बच्चे पढ़ाते हैं, विषय नहीं"। यदि ऐसे आदर्श वाक्य का अर्थ हमें बस यह याद दिलाने से था कि हमेशा कोई तो होगा जिसे पढ़ाया जाना है और कुछ है जो पढ़ाया जा रहा है, तो यह हमारे लिए एक उपयोगी बात हो सकती है। लेकिन अगर इसका अर्थ इस आशय का था कि हम बिना किसी विषयवस्तु के भी पढ़ा सकते हैं तो यह आदर्श वाक्य स्पष्ट नहीं रहता।

शिक्षक, शिक्षार्थी और विषयवस्तु के इस त्रिकोणीय रिश्ते को मान कर चलें तो इन तीनों के बीच का यह संबंध कितना नजदीकी है? अगर कोई किसी को कुछ पढ़ा रहा है तो क्या इसका यह अर्थ होना ही होगा कि कोई वह सब सीख ही रहा है जो सिखाया जा रहा है? अगर कोई सीख रहा है तो क्या उन्हें सिखाने वाले किसी शिक्षक का होना आवश्यक है? शिक्षा पर चिन्तन करने वाले विद्वान इन सवालों के जवाबों पर सहमत नहीं हैं। अमेरिका में पहले-पहल जॉन डिवी (1933) द्वारा शिक्षण और सीखना तथा खरीदना और बेचना के बीच सुझाई गई तुल्य रूपता का अर्थ खोलने की कोशिशें की गईं। अगर यह उपमा सही है, तो दोनों तरह के शब्दों के बीच एक तार्किक संबंध होगा। जैसे किसी खरीददार के बिना कुछ बेचना असम्भव है या किसी विक्रेता के बिना खरीदना, उसी तरह सीखने वाला नहीं हो तो सिखाना, या सिखाने वाला न हो तो सीखना भी मुमकिन नहीं होगा। लेकिन यह धारणा सही नहीं है। बिना किसी शिक्षक के सीखना-जानना तो आम बात है, जैसे यह कि आग जलाती है, कि अमुक गली में तीन हरे दरवाजे हैं। और अगर शिक्षकों को यह बताया जाता है कि उनकी कक्षा में उनके द्वारा जो कुछ पढ़ाया गया था, पढ़ने वाले प्रत्येक बच्चे ने वह सभी कुछ नहीं सीख लिया, तब भी अधिकतर शिक्षक अपने इस दावे से मुकरेंगे नहीं कि वे तो पढ़ा ही रहे थे।

शिक्षण का इससे बेहतर एक वृत्तान्त शायद वह है जो सीखने के नतीजे पर सीधे ध्यान केन्द्रित नहीं करता बल्कि सीखने को इरादतन नतीजे के तौर पर देखता है। यानी शिक्षण एक ऐसी गतिविधि है जिसका इरादा या उद्देश्य सीखने तक ले जाना है (देखें हर्स्ट एवं पीटर्स 1970; शेफ्लर 1973)। लेकिन ऐसा मापदण्ड स्वयं अपने दम पर इस बात की गारण्टी के लिए पर्याप्त नहीं है कि शिक्षण हो जाएगा। उदाहरण के लिए, यह मापदण्ड दो तरह के व्यक्तियों के बीच अन्तर नहीं करेगा एक, जो सिखाने की कोशिश तो कर रहा है लेकिन इसमें असफल रह जाता है तथा दूसरा वह जो वास्तव में सिखा रहा है। इस अन्तर के चलते इस दरार को भरने के लिए विभिन्न तरह के सुझाव आए हैं। हर्स्ट एवं पीटर्स ने सुझाया कि किसी सांकेतिक मापदण्ड को जोड़ा जाए, ताकि यह पता चल सके कि सिखाने का इरादा रखने वाला शिक्षक विषयवस्तु के साथ कुछ न कुछ कर रहा है - उदाहरण के लिए, विषयवस्तु पर लेक्चर देना, उसे प्रदर्शित और चित्रित करना, जिससे शिक्षार्थी को उसके इरादों का संकेत मिलता है। हर्स्ट एवं पीटर्स ने एक शर्त ''तैयारी'' की भी रखी। शिक्षार्थियों को उम्र और सामर्थ्य के हिसाब से अपेक्षित विषयवस्तु सीखने के लिए तैयार रहना होगा। शेफ्लर इन दोनों को इस विचार में जोड़ते हैं कि शिक्षक को ऐसी गतिविधियों में व्यस्त होना होगा जिनके माध्यम से वह सीखना हो पाए जिसके होने का इरादा है। लेकिन उन्होंने यह भी जोड़ा कि शिक्षक द्वारा जो कुछ भी किया जाता है, वह व्यवहार और तौर-तरीकों की कुछ सीमाओं के तहत ही हो - उदाहरण के लिए, यातना या घुट्टी-पिलाई की अनुमति न हो।

इस तरह के विश्लेषणों में तकनीकी मुश्किलें हैं, जिनसे शिक्षण का एक अन्य पहलू प्रदर्शित होता है। इन कठिनाइयों का संबंध सहायक शर्तों के बोझ से है। उदाहरण के लिए, हम मान कर चलते हैं कि एक व्यक्ति इस उद्देश्य से कि सीखना हो पाए, यातना देने और घुट्टी-पिलाई को छोड़ कर वह सब कर रहा है जो हमारे विचार से इसके लिए किया जा सकता है। इस शर्त के पूरा होने पर सम्भावना है कि सीखना हो पाएगा। लेकिन सवाल उठता है कि अगर सहायक शर्तों की पूर्ति की वजह से ऐसा हो पाता है तो हमें इरादे के होने से सम्बद्ध मूल शर्त की जरूरत क्यों है?

हम इसे बस एक 'तकनीकी' मुश्किल कहते हैं क्योंकि असल में तो हम सहायक शर्तो के पूरा होने की आशा तब तक नहीं करेंगे जब तक कि मूल, प्रारम्भिक शर्त पूरी न कर ली जाए। और नीति के तौर पर हम अपनी शैक्षिक संस्थाओं में ऐसे शिक्षक चाहते हैं जो इरादा रखते हों कि लोग सीखें और यह सुनिश्चित करने के लिए कि यह सीखना हो पाए, वे हर सम्भव प्रयास करें। लेकिन आने वाली कठिनाई से संकेत यह मिलता है कि गैर-इरादतन शिक्षण भी हो सकता है। यह शिक्षा के अक्सर उपेक्षित रहने वाले विभिन्न पहलुओं के लिए महत्वपूर्ण हो सकता है। उदाहरण के लिए, यह दलील तो कम से कम दी जा सकती है कि नैतिक शिक्षा केवल निर्देश देने के बजाए साथ नजीर पेश करने से होती है या फिर नजीर के साथ निर्देश देने से। जब उनके आस-पास के लोग ईमानदारी, दया, न्यायप्रियता के गुणों के उदाहरण स्वरूप उनके सामने होते हैं तो बच्चे भी ईमानदार, दयालु या न्यायप्रिय होना सीखते हैं। लेकिन लगता है कि इस तरह के उदाहरण से इस सम्भावना का समावेश नहीं हो पाता कि प्रमुख इरादा सम्बद्ध गुण को हस्तान्तरित करने का हो। अगर आप केवल इसलिए दयाभाव से व्यवहार करते हैं कि आप चाहते हैं कि कोई दूसरा आप की नकल करे, तो आप द्वारा सिखाया जाने वाला सबक वास्तव में दया के बारे में न हो कर छल और बईमानी के बारे में हो जाता है। हम इस अन्तर्दृष्टि को शिक्षा के भीतर ही विषयों के सामान्य शिक्षण पर भी लागू कर सकते हैं। एक अच्छा शिक्षक आशा करता है कि उसके छात्र अमुक विषयों को महत्वपूर्ण समझना सीखेंगे, उनके साथ लगाव पैदा करेंगे। लेकिन लगाव की यह बात एक बार फिर इस संभावना को रोकती है कि मूल उद्देश्य छात्र को लेकर हो न कि अपने विषय के साथ शिक्षक के रिश्ते को लेकर। अगर शिक्षक ध्यान इस बात पर केन्द्रित कर रहा है कि छात्र देखें और विषय के प्रति शिक्षक के लगाव से प्रभावित हों, तो लगता है कि जिस बात की ओर असल में ध्यान देने की जरूरत है, वे उस उचित ध्यान-केन्द्रण को खो चुके होंगे - दूसरे शब्दों में, ध्यान के केन्द्र में विषय की बजाए शिक्षक का उसके प्रति लगाव आ गया है।

हम उपरोक्त बातों को उत्तरदायित्व के अर्थ में ले सकते हैं। छात्रों के सीखने की जिम्मेदारी शिक्षकों की है और यह जिम्मेदारी उपयुक्त इरादे रखने तक ही नहीं, उससे आगे तक की बनती है। हो सकता है कि शिक्षक की ओर से इरादा न होने पर भी उनके छात्र उनसे कुछ सीखते हों -उदाहरण के लिए यह, कि सोमवार सुबह बुरे स्वभाव में होना कुछ गलत बात नहीं है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है - जैसा कि कुछ का मानना है (देखें क्लेइनिंग 1982) - कि छात्रों के सीखने की सम्पूर्ण जिम्मेदारी शिक्षकों की है। इसका यह अर्थ भी नहीं है कि अगर छात्र सीखते नहीं हैं, तो शिक्षक किसी न किसी रूप में बेपरवाह रहा होगा। बेपरवाही में होने वाला नुकसान ऐसा होता है जिससे बचा जा सकता है लेकिन वह अनजाने में, नुकसान करने का इरादा न होने पर भी हो जाता है। इस मामले में नुकसान किसी के कुछ न सीख पाने का है। इस नाकामी में बेपरवाही का संकेत तो हो सकता है लेकिन बेपरवाही की बात से बचाव केवल इस बात में नहीं है कि नुकसान नहीं हुआ - उसके लिए यह भी दिखाना होगा कि उससे बचना संभव नहीं था। इस प्रकार अगर शिक्षक यह दिखा सकता है कि उसने अंजाम से बचने के लिए हर संभव प्रयास किया था, तो समझो उसने प्रदर्शित कर दिया कि दोष उसका नहीं है। लेकिन अगर हम शिक्षकों के दायित्व की बात को गम्भीरता से लेते हैं और हमारे पास छात्रें के लगातार न सीख पाने के - या अनुपयुक्त बातें सीखने के - मामले हैं, तो ऐसी स्थिति में हमें मांग करनी होगी कि दोष न होने की बात को सिद्ध किया जाए।

सीखना

शिक्षण और सीखने में शामिल सीखने को कैसे देखें? जैसा कि हमने अध्याय के शुरू में जिक्र किया था, शिक्षा के दार्शनिकों-विद्वानों ने इस विषय पर एक अजीब-सी चुप्पी अख्तियार कर रखी है। 'सीखने' की अवधारणा का विश्लेषण अपेक्षाकृत सीधा सा मामला प्रतीत होता है। इस मामले में मानक यह है कि एक व्यक्ति वह ज्ञान हासिल करता है जो उसके पास पहले नहीं था। यह ज्ञान कुछ बातों के बारे में सुपरिचित होने से सम्बद्ध हो सकता है (जैसे, मैं जानता हूं कि 'क' देखने में कैसा है); या कथनात्मक ज्ञान हो सकता है (उदाहरण के लिए, मुझे किसी कथन के सत्य की जानकारी है, जैसे कि - हेस्टिंग्स का युद्ध 1066 में हुआ था); या फिर यह कार्य विधीय ज्ञान हो सकता है यानी कुछ कैसे करना है से संबद्ध ज्ञान, जैसे कि साइकिल कैसे चलानी है। क्योंकि ज्ञान के सभी रूपों में सटीकता का विचार निहित है, यानी किसी बात तक बिल्कुल सही तौर पर पहुंचना, इसलिए मानकीय उदाहरण में भी ऐसी सटीकता शामिल रहती है। उदाहरण के लिए, अगर कुछ लोग दावा करते हैं कि वे 'जो ब्लॉग्स' नामक व्यक्ति की शक्ल से परिचित हो गए हैं, तो हम आशा करेंगे कि वे जो ब्लॉग्स को पहचान पाएंगे। अगर उनका दावा है कि उन्हें हेस्टिंग्स के युद्ध की तारीख का ज्ञान है, तो हम दोनों बातें मान कर चलेंगे - कि यह युद्ध 1066 में ही हुआ था, और जब उनसे पूछा जाएगा कि यह कब हुआ, तो वे उपयुक्त और सही जवाब दे पाएंगे। अगर कोई दावा करता है कि उसने साइकिल चलाना सीख लिया है, तो हमारी आशा होगी कि वह हमें साइकिल चला कर दिखा सकेगा। हां, यह संभव है कि इन सब मामलों में किसी ने कुछ सीखा तो हो, मगर हमें प्रमाण दिए बिना कि ऐसा ही है - उदाहरण के लिए, वे यह स्वीकारने से इंकार कर सकते हैं कि अमुक व्यक्ति जो ब्लॉग्स है या फिर वे युद्ध के बारे में किसी सवाल का जवाब देने से मना कर सकते हैं या साइकिल पर चढ़ने से इनकार कर सकते हैं। लेकिन इस तरह के मामले किसी न किसी रूप में निम्न स्तरीय, खराब तरह के होंगे। जब तक हम विश्वसनीय तौर पर जांच न सकें कि किसी ने अधिकतर समय कुछ सीखा था या नहीं (और यह बात हमारे सीखने और दूसरों के सीखने, दोनों पर लागू होती है) तो सीखना क्या होता है के बारे में हकीकत में हमारे विचारों की कोई पक्की पकड़ नहीं बनेगी।

निम्नस्तरीय, खराब तरह के सीखने के अन्य उदाहरण भी हैं। जिस प्रकार हमें किसी बात के बारे में सूचना दी जा सकती है (मसलन जो ब्लॉग्स कैसा दिखता है, या युद्ध के साल के बारे में), उसी तरह हम भ्रमित भी हो सकते हैं - हम सोच सकते हैं कि हम जानते हैं, जबकि असल में हम नहीं जानते। यही बात कार्य विधीय ज्ञान पर लागू होती है - हमें लग सकता है कि हमें मालूम है कि कुछ कैसे करना है, लेकिन उसे कर पाने में सक्षम हुए बिना।

हालांकि ऊपर चर्चा में आए मानक उदाहरण में सीखने की सफल उपलब्धि की बात निहित है, लेकिन शिक्षकों की दिलचस्पी ज्ञानार्जन की प्रक्रियाओं में भी होती है। इस प्रकार, अगर मैं इंग्लैण्ड पर जीत हासिल करने के लिए विजेता विलियम के मोरचे का विवरण जान गया हूं तो मैं हेस्टिंग्स के युद्ध की तारीख भी जान जाऊंगा। दूसरी ओर, अगर मैं इस मोरचे के बारे में अभी जानने-सीखने की प्रक्रिया में हूं, तो हालांकि संभावना है कि मुझे कुछ प्रासंगिक तथ्यों की जानकरी होगी, तो भी सीख रहे होने के अपने दावे को बनाए रखने के लिए मेरे पास किसी विशेष प्रासंगिक तथ्य का होना जरूरी नहीं है। यहां, जैसे कि अन्यत्र भी, मानक उदाहरण हमारे लिए पथ-निर्देश उपलब्ध करवाता है। अगर हमें मालूम न हो कि सीखने की उपलब्धि कैसी दिखती है, तो हमारे पास सीखने की प्रक्रियाओं को चिह्नित करने का भी कोई तरीका न होगा। यह कह पा सकने के लिए कि बच्चे सीखने की गतिविधियों में लगे हुए हैं, हमें यह अंदाजा होना होगा कि बच्चों के लिए सफलतापूर्वक सीखने का अर्थ क्या होगा।

मामला शायद यह है कि सीखने की अवधारणा एक अनगढ़ अवधारणा है। यानी इंसानों के और कुछ अन्य जानवरों के भी जीवन को हम सीखने की उनकी सामर्थ्य के अर्थ में तो समझा सकते हैं, लेकिन हम शायद इस सामर्थ्य को व्याख्यायित न कर पाएं। ऐसा करने की किसी भी कोशिश के तहत संभवतः होगा यह कि जिसकी व्याख्या की जानी है, उसी को मान लिया जाए। उदाहरण के लिए, मान्यता है कि आधुनिक समय में शिक्षकों को एक अनिवार्यता का

पालन करना होगा - छात्रों को प्रोत्साहित करने की अनिवार्यता कि वे ''सीखें कि कैसे सीखना है'' (इसका मूल शायद डी-स्कूलिंग की मुहिम में है, देखिए बैरो 1978, अध्याय 7)। लेकिन ऐसा विचार सीधे तौर पर यह मान कर चलता है कि विद्यार्थी सीख सकते हैं कि कैसे सीखना है। इस शुरुआती मान्यता के बिना कि सीखने की यह आधारभूत सामर्थ्य मौजूद है, अनिवार्यता का कोई अर्थ न रह जाएगा यानी आधारभूत सामर्थ्य होने की सूरत में ही 'सीखें कि कैसे सीखना है' की अनिवार्यता पूरी हो पाएगी।

हो सकता है, शिक्षा-दार्शनिकों ने इस बात को समझते-पहचानते हुए कि सीखना एक अनगढ़ अवधारणा है, इस विषय पर अपेक्षाकृत चुप्पी साधे रखी। आखिरकार अगर अपने समर्पित अर्थ में यह अनगढ़ है, तो बहुत कुछ कहने को रह ही नहीं जाता। लेकिन इससे अन्य लोग ज्ञानार्जन के सिद्धांत स्थापित करने की कोशिश करने से नहीं रुके। बीसवीं सदी में ऐसे सिद्धांत व्यवहारवाद और बोधवाद जैसे मनोविज्ञान-आधारित सिद्धांतों के इर्द-गिर्द एकत्र हुए हैं। अगर ये सिद्धांत विश्वसनीय हैं तो शायद ये सफलता पूर्वक सीखने के लिए सहायक शिक्षण के नजरियों को पैदा करें। लेकिन यह मान कर चलने के लिए बहुत अच्छे कारण दिखाई देते हैं कि ऐसे दृष्टिकोण विश्वसनीय नहीं हैं (देखिए विंच 1998) और यह तो पक्की ही बात है कि अब तक ऐसे किसी सिद्धांत ने शिक्षण के प्रति इस प्रकार के नजरियों को जन्म नहीं दिया है। बल्कि हमें अधपके विचारों को बढ़ावा मिलता दिखाई देता है। उदाहरण के लिए, यह विचार कि हमारा उद्देश्य 'सक्रिय' सीखना होना चाहिए, या तो इस तथ्य की उपेक्षा करता है कि हर तरह के सीखने को स्वभावतः सक्रिय होना ही होता है, यानी उसमें मानसिक परिवर्तन शामिल ही होता है; या बैठ कर लेक्चर सुनना, पुस्तक पढ़ना जैसी कुछ गतिविधियों को निष्क्रिय कहते हुए वह इस बात की उपेक्षा करता है कि ऐसी परिस्थितियों में भी काफी सीखना हो रहा होता है। (विडम्बना यह है कि 'सक्रिय' सीखने की वकालत करने वाले ये लोग लेक्चरों और किताबों के माध्यम से अपनी बात का प्रचार कर रहे होते हैं)।

सीखना अनगढ़ तो हो सकता है लेकिन यह बिना शर्त नहीं हो सकता। सीखने के उन सब मानक उदाहरणों में, जो हमने दिए हैं - और अन्तर्निहित रूप से ऐसे सीखने को सम्भव बनाने वाले शिक्षण में - यह बात शामिल है कि शिक्षार्थी किसी न किसी बात में पहले से बेहतर स्थिति में होगा। इसलिए सब मामलों में शिक्षार्थी अज्ञान से ज्ञान की ओर बढ़ता है। और कम से कम सैद्धांतिक तौर पर तो हम जान सकते हैं कि ऐसी प्रगति हुई है। सीखना स्वभाव से ही प्रगतिशील होता है। जहां यह प्रगति सम्भव न हो, वहां सीखना भी नहीं हो सकता।

ऊपर दर्ज किए गए अंतिम वाक्य को एक घिसी-पिटी, बार-बार दोहराई गई बात के रूप में लिया जा सकता है हालांकि शिक्षा के बड़े हिस्सों में इसकी उपेक्षा होती दिखती है। उदाहरण के लिए, मूल्यों से संबद्ध दर्शनशास्त्र के पाठ्यक्रम (जैसे कि नैतिक दर्शनशास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र) पढ़ाने के हमारे अनुभव के आधार पर हमें ऐसा लगता है कि कला और साहित्य जैसे विषय पढ़ लेने के बाद बहुत बड़ी संख्या में विद्यार्थी जब स्कूल से निकलते हैं तो वे इस बात के कायल हो चुके होते हैं कि ऐसे विषयों से संबद्ध मूल्य व्यक्ति परक और भावात्मक होते हैं। एक बहुत ही कच्चे तौर पर देखें तो यह कहना कि फलां कलाकृति या क्रिया अच्छी है, बस यह कहने के बराबर है कि वह आपको पसन्द है। और यह कहना कि 'क' 'ख' से बेहतर है, दूसरे ढंग से यह कहना है कि आप 'ख' की बजाए 'क' को अधिक महत्व देते हैं।

हो सकता है कि ऐसी व्यक्तिपरकता सच में हो, कि कला में या अन्यत्र वस्तुपरक मूल्य हों ही नहीं (मगर देखें गिंगेल और ब्रैण्डन 2000, अध्याय 3)। लेकिन अगर यह सच है तो इसका अर्थ यह हुआ कि उन क्षेत्रों में कोई ज्ञानार्जन नहीं हो सकता जिनके लिए यह सच है। अगर सभी मूल्य आम तौर पर पसन्द की ही बात हैं, और अगर प्रत्येक पसन्द किसी अन्य पसन्द जितनी ही अच्छी है, यानी इन पर कोई वस्तुपरक मानक लागू नहीं किया जा सकता, तो एक बेहतर आकलनकर्ता बनना सीखना असंभव हो जाता है। और इसका अर्थ यह निकलता है कि शराब की गुणवत्ता परखने से लेकर कला के इतिहास या अंग्रेजी साहित्य में डिग्री हासिल करने तक की सब गतिविधियां जो मान कर चलती हुई लगती हैं कि ऐसी प्रगति संभव है, समय की बरबादी के अलावा कुछ भी नहीं हैं। हां, यह तो हो सकता है कि

इस प्रकार की गतिविधियों में भाग लेने से एक व्यक्ति की पसन्द बदल जाए, लेकिन क्योंकि इस सिद्धांत के अन्तर्गत प्राथमिकताओं का एक समूह किसी भी अन्य समूह से बेहतर नहीं हो सकता, तो ऐसा बदलाव इस लायक दिखाई नहीं देता कि उसे बेहतरी का नाम दिया जा सके। और इसलिए वह उसमें शामिल कड़ी मेहनत को उचित सिद्ध करता नहीं दिखाई देता।

इस दृष्टिकोण को कुशलता की शब्दावली और अर्थ में व्यक्त किया जा सकता है। शिक्षण और सीखने में शिक्षक द्वारा अपनी कुशलता को सीखने वाले तक हस्तांतरित किया जाना या ऐसा करने की कोशिश शामिल है। व्यक्तिपरकता का दावा है कि जहां तक मूल्यों की बात है, कोई एक व्यक्ति किसी अन्य से अधिक कुशल नहीं हो सकता - दूसरे शब्दों में अगर हर कोई बराबर का कुशल है तो कुशलता का विचार पूरी तरह अप्रासंगिक हो जाता है। लकिन अगर ऐसा है तो कुशलता को हस्तांतरित करना या अधिक कुशल बनने की कोशिश करना असंभव हो जाता है।

ज्ञान की किस्में

हम पहले ही ज्ञान की उन किस्मों की बात कर चुके हैं जो हम आशा करते हैं कि शिक्षा के भीतर विद्यार्थियों द्वारा विकसित की जाएंगी। ये हैं जानकारी आधारित ज्ञान, कथनात्मक ज्ञान यानी इस बात का ज्ञान कि कोई प्रस्तावित कथन सत्य है या झूठ, और कार्य विधीय ज्ञान यानी कुछ करने का या तकनीकी ज्ञान। हालांकि इन तीनों प्रकार के ज्ञान की तह कुछ हद तक एक दूसरे पर आती है/यानी तीनों में कुछ-कुछ समानता भी है, लेकिन इनमें से किसी भी एक किस्म को किसी अन्य तक संक्षिप्त या सीमित नहीं किया जा सकता। कई कोशिशें (उल्लेखनीय तौर पर 1960 तथा 1970 के दशकों में पॉल हर्स्ट द्वारा) हुईं कि किसी एक किस्म को शिक्षा के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण होने के रूप में स्थापित किया जाए (इस मुद्दे से संबद्ध लेखों के संग्रह के लिए देखिए, हर्स्ट 1974)। हर्स्ट की दलील थी कि अगर हम शिक्षा को तर्क बुद्धि के विकास के तौर पर देखें और फिर ऐसे मस्तिष्क की विषयवस्तु के बारे में पूछें तो हम पाएंगे कि यह विषयवस्तु पिछली कई सदियों में विकसित ज्ञान के विभिन्न रूपों से बनी है। हर्स्ट का दावा था कि ज्ञान का प्रत्येक रूप उस रूप के लिए विशेष तौर से समर्पित केन्द्रीय धारणाओं को साकार करेगा - जैसे, विज्ञान में गुरुत्वाकर्षण और गतिवर्धन, धर्म में ईश्वर और पाप, नैतिक ज्ञान में अच्छा और बुरा। प्रत्येक में एक अलग से दिखाई देने वाला तार्किक ढांचा होगा जो तय करेगा कि ज्ञान के उस रूप के भीतर रहते हुए क्या कहा जा सकता है और क्या नहीं। सबसे महत्वपूर्ण यह कि प्रत्येक में ऐसी अभिव्यक्तियां होंगी जिनकी सत्यता को किसी घटना की कसौटी पर जांचा जा सकता है। इस अन्तिम शर्त से यह प्रकट होता है कि यह सिद्धांत कथनात्मक ज्ञान से संबद्ध है। इस सिद्धांत से परिचित करवाने वाले लेख (हर्स्ट 1965ए) में हर्स्ट के अनुसार कथनात्मक ज्ञान के मूलतः आठ रूप हैं; गणित, भौतिक-विज्ञान, मानव-विज्ञान, इतिहास, धर्म, साहित्य और ललित कलाएं, दर्शनशास्त्र, नैतिकता। हर्स्ट ने कभी यह दावा नहीं किया कि स्कूल में ज्ञान के केवल इन आठ रूपों का ही अध्ययन हो। उन्होंने अन्य गैर-अकादमिक सरोकारों के लिए भी गुंजाइश छोड़ी। यह दावा भी कभी नहीं किया कि इनमें से प्रत्येक को उसके पवित्र रूप में ही देखना-जानना होगा। इन रूपों को जोड़ कर, साथ लाकर, 'ज्ञान के क्षेत्रों' में अध्ययन किया जा सकता है - उदाहरण के लिए भूगोल, जिसकी जड़ें भौतिक एवं मानव-विज्ञान में हैं, ऐसा ही एक क्षेत्र है।

यह सच है कि हर्स्ट का सिद्धांत अकादमिक पाठ्यचर्या के लिए एक स्पष्ट और सुव्यवस्थित आधार प्रदान करता प्रतीत होता था। लेकिन जाहिर है कि यह तब ही होगा, अगर सिद्धांत टिकाऊ और विश्वसनीय हो। और सिद्धांत के टिकाऊ तथा विश्वसनीय होने पर भरोसा इसलिए कमजोर रहा कि स्वयं हर्स्ट को यह निर्णय लेने में मुश्किल होती लग रही थी कि क्या ज्ञान का रूप है और क्या नहीं। 1965 में उन्होंने एक लेख (हर्स्ट 1965बी) प्रकाशित किया जिसमें दलील दी गई कि धर्म ज्ञान का रूप न तो है और न हो सकता है। इसके बाद इस सिद्धांत की अभिव्यक्ति इस रूप में की गई कि मानव-विज्ञान और इतिहास को मिला कर 'स्वयं का और अन्य लोगों का ज्ञान' बना दिया गया। दर्शनशास्त्र के एक हिस्से को गणित की ओर सरका दिया गया और अब यह 'तर्कशास्त्र तथा गणित' बन गया। लेकिन यह सिद्धांत निरन्तर आलोचना का विषय भी रहा (उदाहरण के लिए, देखिए बैरो 1976; गिंगेल 1985), जिसका उद्देश्य यह दिखाना

था कि इस सिद्धांत की ज्ञानमीमांसीय बुनियाद एक गलत धारणा पर आधारित थी और इसमें ज्ञान के कुछ मानित रूपों को जैसे कि धर्म, नैतिकता और खास तौर से साहित्य और ललित कलाओं को ज्ञान का मिथ्या दावेदार बताया गया है। हर्स्ट ने सीधे तौर पर कभी भी इन हमलों का जवाब नहीं दिया लेकिन 1990 के दशक में (देखें हर्स्ट 1993) उन्होंने सिद्धांत को निरस्त कर दिया - क्योंकि उन्हीं का दावा था कि इसमें कुशलता और सांस्कृतिक हस्तांतरण की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है।

जब कथनात्मक ज्ञान पर बल देने वाला हर्स्ट का सिद्धांत अपना केन्द्रीय महत्व खोने लगा था तभी बिल्कुल अलग बात पर बल देने वाला एक अन्य सिद्धांत उसका स्थान लेने की चुनौती के साथ सामने आया। इसमें एक ऐसी विशिष्टता पर आधारित ज्ञान का वृत्तांत था जिसके हक में मूलतः गिल्बर्ट राइल की उत्कृष्ट पुस्तक द *कॉन्सेप्ट ऑव माइन्ड* (1949) में दलील दी गई थी। अपनी उस कृति में राइल इंसान के मस्तिष्क में कथनात्मक ज्ञान की भूमिका को स्वीकारते हैं लेकिन साथ ही तर्क देते हैं कि इतनी ही बड़ी भूमिका कार्य विधीय ज्ञान यानी दक्षता की भी होती है, जिसे प्रस्तावात्मक कथनों के ज्ञान तक सीमित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार, साइकिल चलाने और तैरने संबंधी हमारा ज्ञान मूलतः व्यावहारिक है और इसलिए इसे व्यवहार में ही जांचा जा सकता है। इसकी जांच साइकिल चलाने या तैराकी के संबंध में प्रस्तावित सत्य कथनों की किसी सूची को उच्चारित करने मात्र से तो नहीं हो सकती। जो बात हर्स्ट के सिद्धांत की ताकत का आभास दिलाती थी, वह ज्ञान, सत्य और तार्किकता के बीच जाहिरा तौर पर स्थापित किए गए निकट संबंध की बात थी। राइल के सिद्धांत की ताकत कुशलता और बुद्धि के बीच स्थापित किए जा सकने वाले संबंध में प्रतीत होती है। इस तरह, राइल का तर्क था (देखिए, राइल 1974) कि तथ्यों की जानकारी - यानी कथनात्मक ज्ञान - बुद्धि को प्रदर्शित नहीं करती बल्कि वह तो जिन तथ्यों पर आपका नियंत्रण है, उन्हें व्यवस्थित किए जाने में प्रदर्शित होती है। उदाहरण के लिए, बहुत मुमकिन है कि एक तरह के कई तथ्यों की जानकारी वाले व्यक्ति के मुकाबले जिस व्यक्ति को कम तथ्यों का ज्ञान है, वह इनका इस्तेमाल अधिक बेहतर तरीके से कर सके। शिक्षा के लिए इस तरह के सिद्धांत की अपील स्पष्ट ही होनी चाहिए। व्यावहारिकता पर इसका बल सत्य के ज्ञान के क्षेत्र से भी आगे की शैक्षिक सम्भावनाओं को खोलता है, तो शिक्षा में व्यावहारिक होने को भी उतना ही स्थान क्यों न मिले जितना कि सत्य का ज्ञान होने को। लेकिन इससे हमें यह भी जान पड़ता प्रतीत होता है कि हमारा बल विषयों के भीतर किस बात पर होना चाहिए। जिस तरह गणित में हमारा सरोकार होता है कि बच्चे बस कुछ गणितीय सत्य ही न सीखें बल्कि वे सीखें कि गणित कैसे करना है (जैसे कि पहाड़े), उसी तरह यह सिद्धांत हमें बताता है कि बच्चों को सिर्फ ऐतिहासिक और वैज्ञानिक तथ्य ही नहीं सीखना चाहिए बल्कि उन्हें यह भी जानना चाहिए कि इतिहास या विज्ञान कैसे करना है (कम से कम यह तो तर्कसंगत है कि हर्स्ट में भी इस प्रकार की प्रक्रियाओं पर कुछ बल दिया गया है)।

बल किस बात पर दिया जाना है, इस बारे में यह परिवर्तन पिछले 20 सालों में अंग्रेजी शिक्षा की (यह लेख इंग्लैंड के संदर्भ में लिखा गया है) एक स्वागत योग्य विशेषता रही है, हालांकि इसका पदार्पण एक भ्रामक बैनर के तहत हुआ (जिसके बारे में हम आगे चल कर बात करेंगे)। लेकिन इस बल से बहुत सावधानी से जूझना होगा। एक खतरा तो यह है कि बच्चे बहुत सा समय किसी एक विषय पर इस रूप में बरबाद कर रहे हो सकते हैं कि बहुत कुछ प्रयास करने के बाद भी वे पहुंचें वहीं जहां वे पहले थे, यानी पुरानी ही बात को फिर से सीख रहे हों। जहां एक ओर हम चाहते हैं कि बच्चे जानें कि गणित या इतिहास कैसे करना है, वहीं ऐसे विषयों में मूल तथ्य - उदाहरण के लिए, गुणा के पहाड़ों या घटनाओं का एक उचित सिलसिले वार क्रम - इस जानने में कोई बाधा नहीं बनते बल्कि एक अच्छा व्यावहारिक साधन ही होते हैं। दूसरी बात, राइल की दलीलों के बावजूद, हम अपने छात्रों को सही सवाल पूछना सिखाना शुरू कर सकते हैं - जैसे, किसी कविता के बारे में या इतिहास से संबद्ध मूल स्रोतों के बारे में। बहुत संभावना है कि उन्हें ऐसे सवालों के संतुष्टि पूर्ण जवाब तथ्यात्मक ज्ञान की पृष्ठभूमि के बिना नहीं मिल पाएंगे। उदाहरण के लिए, इतिहास के विद्यार्थियों को उन्नीसवीं सदी के लैंकाशर में औद्योगीकरण से संबद्ध स्रोत-सामग्री प्रदान की जा सकती है और वे दस्तावेजों को आलोचनात्मक दृष्टि से देखना भी शुरू कर सकते हैं, लेकिन वे तब तक इस सामग्री के बारे में एक तर्क संगत मूल्यांकन तक नहीं पहुंच पाएंगे जब तक उनके पास देश में अन्य जगहों पर चली औद्योगीकरण

की प्रक्रिया का ज्ञान न हो। तीसरी बात यह, कि जहां एक ओर यह अच्छा लगता है कि साहित्य के विद्यार्थी, उदाहरण के लिए कविता पर, स्वयं के विश्लेषण प्रस्तुत कर रहे हैं न कि स्थापित आलोचकों की राय, इसमें कोई शक नहीं कि बहुत बार जब हम अन्य लोगों के विचारों के बारे में सोच रहे होते हैं, तब ही, उनकी मदद से, अपने विचारों तक भी पहुंचते हैं। यह भी निश्चित ही है कि शेक्स्पियर या वर्ड्सवर्थ की विलक्षण प्रतिभा को जानने-समझने के लिए आपको उनसे पहले के साहित्यकारों या समकालीनों को समझना होगा।

ऊपर की बात से प्रदर्शित होता है कि व्यावहारिक या कार्य विधीय ज्ञान शिक्षा का उचित केन्द्र-बिन्दु हो सकता है लेकिन इसे अन्य प्रकार के ज्ञान के साथ संतुलन में चलना होगा। कथनात्मक ज्ञान बहुत बार ऐसे ज्ञान के विकसित होने और फलने-फूलने के लिए एक संदर्भ प्रदान करता है, और जानकारी- आधारित ज्ञान वे चीजें प्रदान करता हुआ दिखाई देता है - जैसे कि कविताएं या ऐतिहासिक स्रोत-सामग्री के हिस्से - जो अन्य प्रकार के ज्ञान को विकसित होने में मदद करती हैं।

अकेले कार्य विधीय ज्ञान पर ध्यान केन्द्रित करने का एक और खतरा है। हालांकि जैसा कि हमने ऊपर कहा है, इस पर बल देने से पाठ्यचर्या को विस्तार देने का एक अच्छा मौका मिलता है, लेकिन अगर इसे अकेले तौर पर लिया जाए तो खतरा है कि पाठ्यचर्या आवश्यकता से अधिक विस्तृत और बहुत छिछली बन सकती है। इस तरह के ज्ञान में बिस्तर कैसे लगाना है की जानकारी से लेकर दर्शनशास्त्र या नाभिकीय भौतिकी तक का लम्बा-चौड़ा विस्तार है। और जब तक हमारे पास यह तय करने के कोई तरीके नहीं हैं कि इनमें से किसे औपचारिक शिक्षा में शामिल रखना है, तो हम एक विशाल, आकार हीन और अक्सर महत्वहीन पाठ्यचर्या का सामना कर रहे होंगे। इसलिए हमें यह भी देखना होगा कि किस तरह की सांस्कृतिक सीमाओं का ध्यान रखना है - जिनका जिक्र हमने पाठ्यचर्या से संबद्ध अध्याय[1] में किया है। इस प्रकार हम सुनिश्चित कर सकते हैं कि बच्चे जानना शुरू करें कि उन्हें किन्हीं विशेष गतिविधियों में व्यस्त कैसे रहना है - लेकिन साथ ही यह भी सुनिश्चित करना होगा कि चुनी गई गतिविधियां उन्हें व्यस्त रख सकने लायक हों।

ऊपर हमने कहा है कि कार्य विधीय ज्ञान ने शैक्षिक क्षेत्र में एक भ्रामक बैनर के तहत प्रवेश किया। हालांकि इस तरह के ज्ञान के विकास का सरोकार राइल के काम से पैदा हुआ, पिछले बीस साल से शिक्षा के गलियारों में कई स्तरों पर दिखाई दे रहे इस सरोकार का परिचय अक्सर 'कौशलों' के नाम से दिया जाता है। उदाहरण के लिए, प्राइमरी स्कूलों के शिक्षकों को अक्सर अपने विद्यार्थियों के पठन, लेखन, बोलने तथा सुनने के कौशलों पर ध्यान देने को कहा जाता है और विश्वविद्यालयों के विभागों को विषय-विशेष पर तथा हस्तांतरित हो पाने वाले उन कौशलों पर ध्यान देने को कहा जाता है जिनके बारे में विद्यार्थियों से अपेक्षा की जाती है कि वे उन्हें विकसित करें। राइल द्वारा कही गई बात को काफी हद तक - और आराम से - दक्षता के इस विचार की संगति में देखा जा सकता है, लेकिन उनकी कही गई बात का एक हिस्सा इसके अनुरूप नहीं है। और उल्लेखनीय बात यह है कि राइल स्वयं कार्य विधीय ज्ञान और दक्षता को चिह्नित करने हेतु कुछ भी प्रोत्साहन नहीं देते। इसका कारण यह हो सकता है कि ये दोनों अवधारणाएं आंशिक तौर पर एक-दूसरे से समानता रखती हैं। 'कौशल' संबंधी इस चर्चा पर सहमति नहीं है (बैरो 1987; स्मिथ 1987)। लेकिन यह संभव प्रतीत होता है कि 'कौशल' की अवधारणा का कोई भी तर्कसंगत प्रयोग किसी न किसी रूप में किसी न किसी कार्य के कुशलता पूर्वक प्रदर्शन के विचार पर आधारित होगा। लेकिन यदि ऐसा है तो 'कौशल' संबंधी यह चर्चा भ्रामक हो जाती है। यह तो सही है कि कुछ बातें कैसे की जानी हैं, यह कम या अधिक कुशलता के साथ सिखाया जा सकता है। यह सिखाया जा सकता है कि कविता का विश्लेषण कैसे किया जाता है या साइकिल कैसे चलाई जाती है। इस सिलसिले के नीचले छोर पर केवल कारीगर की तरह के प्रदर्शन और काम होंगे जबकि ऊपरी छोर पर ये प्रदर्शन और काम एफ.आर. लीविस या लांस आर्मस्ट्रॉग जैसे पेशेवरों के करीब जा पड़ेंगे। लेकिन ऐसे मामलों में भी शिक्षक का सरोकार शायद इस बात से न हो कि कितनी ऊंचाइयों तक पहुंचा जा सकता है। साइकिल-प्रशिक्षक स्वयं को इतने में ही कामयाब मान सकता है कि उसका शिष्य साइकिल चलाते हुए, उससे उतरे बिना, सार्वजनिक सड़क

के यातायात को सफलतापूर्वक पार कर जाए - वह शायद अपने शिष्य से यह उम्मीद या अपेक्षा नहीं रखेगा कि वह टूर द फ्रांस जीत ले। लेकिन जहां तक कौशल संबंधी चर्चा के तहत एकत्र कुछ प्रसंगों में प्रदर्शन की बात है, इस तरह की भिन्नता की कल्पना करना मुश्किल है। उदाहरण के लिए कुछ लोग 'पुस्तकालयी कौशलों' की बात करते हैं जिससे उनका अर्थ पुस्तकालय में कोई पुस्तक तलाश पाने भर से है। यह समझ पाना सच में मुश्किल है कि किताब ढूंढ़ने का काम कम या अधिक कुशलता के साथ कैसे किया जा सकता है? किसी विद्यार्थी द्वारा दर्शनशास्त्र पर लिखे गए निबंध को पुरस्कृत किया जाना पूरी तरह समझ में आता है लेकिन 'पुस्तकालयी कुशलत' के लिए इस तरह के पुरस्कार का विचार हास्यास्पद लगता है। यही बात 'ध्यान से सुनने के कौशलों' के बारे में भी कही जा सकती है। सामान्य, साधारण संदर्भ में जो उनसे कहा जा रहा होता है, लोग उसे ध्यान पूर्वक सुनते हैं - या नहीं सुनते। लेकिन वे ऐसा इसलिए नहीं करते क्योंकि वे कम या अधिक कुशलता के साथ सुन सकते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि लोगों को श्रवण-कर्म (ध्यानपूर्वक सुनना) नहीं सिखाया जाए या पुस्तकालय की पुस्तक विवरण-सूची इस्तेमाल करना न सिखाया जाए। हम बस इतना ही कह रहे हैं कि क्योंकि इस तरह के पाठों का कुशलता पूर्ण प्रदर्शन से कम ही सरोकार हो सकता है, इसलिए कौशलों से इनका संबंध संदिग्ध होता है।

सामर्थ्य और कौशल के बीच के अन्तर को देखें तो इस मामले से निपटा जा सकता है। बहुत बार अपने शिक्षण में हम इनमें से पहली बात को लक्ष्य बना रहे होते हैं। कई मामलों में तो बस यही बात है जिसे समझदारी से लक्ष्य बनाया जा सकता है। लेकिन कौशल संबंधी चर्चा में यह अन्तर हमारे लिए बिल्कुल भी मददगार नहीं होता। जब लोग 'परवाह' करने के कौशल या 'दोस्ती' के कौशल या 'धार्मिक' कौशलों की बात करने लगते हैं तो समझ पाना बहुत कठिन होता है कि इनका अर्थ क्या है। ऐसी चर्चाओं में न तो सामर्थ्य संबंधी और न ही कुशलता-संबंधी विचारों का कोई महत्व होता है। लेकिन अगर ऐसा है, तो संभावना यह है कि 'परवाह करने', 'दोस्ताना होने' और 'धार्मिक होने' के बारे में बात करने का एक और ही तरीका अपनाया जा रहा है जो पूरी तरह निरर्थक एवं अप्रासंगिक है। और क्योंकि यह निरर्थक एवं अप्रासंगिक है अतः हमें ऐसी चर्चा की कोई जरूरत नहीं है, जो मौजूदा विषय को सामने लाने की बजाए उसे धुंधलाती और अस्पष्ट करती हो। ◆

(यह लेख क्रिस्टोफर विंच और जॉन गिंगेल की किताब 'Philosophy& Educational Policy A Critical Introduction' से लिया गया है।)

क्रिस्टोफर विंचः इंग्लैण्ड के जाने-माने समकालीन शिक्षा दार्शनिक और किंग्स कॉलेज, लंदन में शिक्षा दर्शन के प्रोफेसर।
जॉन गिंगेलः यूनिवर्सिटी कॉलेज नॉर्थम्पटन में दर्शनशास्त्र के विभागाध्यक्ष हैं।

भाषान्तर : रमणीक मोहन

संदर्भ

1. Culture and curriculum; Philosophy& Educational Policy A Critical Introduction; Christopher Winch & Johan Gingell.

चेतना के विस्तार के रूप में शिक्षा

रोहित धनकर

जोन ड्यूवी का कहना है कि 'बच्चा व्यक्तिगत संपर्कों की सिमित दुनिया में जीता है', वे मानते हैं कि बच्चे को इस ''सिमित दुनिया'' से उस दुनिया में ले जाना है, जो कि समय के हिसाब से ''अनंत अतीत तथा विस्तृत ब्रह्माण्ड में फैली हुई है।'' यह मेरे मत अनुसार शिक्षा के अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य के रूप में चरित्रार्थ होता है।

हम सब अपना जीवन सीमित व सुरक्षित वातावरण में प्रारम्भ करते है। अतः यह एक स्वाभाविक बात है कि बच्ची का जीवन उन व्यक्तियों तथा उनके साथ के प्रत्यक्ष अनुभवों व भौतिक वातावरण तक ही सिमित रहता है, जिनसे वह घिरी हुई है। परन्तु परिवार तक ही सिमटी उस छोटी सी दुनिया में भी जिस वक्त बच्ची अन्य व्यक्तियों के साथ अंतर्संबंध (वार्तालाप) स्थापित कर रही होती है उस वक्त जीवन, चेतना (मतिष्क) के विपुल विस्तार की मांग करता है। बच्ची का सामाजीकरण, उसके समुदाय विशेष के व्यवहार के तौर-तरीकों, उनकी सोच तथा भावनाओं में होता है। यह उसे अन्य लोगों से जुड़ने में तथा उनके आशय, आशाओं और दर्द को समझने में मदद करता है। इस तरह से यह कहा जा सकता है कि वह अपनी स्वयं की चेतना में उन्हें सम्मिलित कर लेती है और यह सब उसी का एक हिस्सा बन जाते हैं, तथा इस प्रकार उसकी चेतना का विस्तार होता है।

बच्चे सोचने वाले प्राणी बनें यह एक महान उपलब्धि है परन्तु बच्चों की चेतना अभी भी उनके सांस्कृतिक व भौतिक वातावरण से ही जुड़ी हुई होती है। दिमाग के सृजन की प्रक्रिया भी इसे बांधे रखती है। इसलिए बच्ची के चिंतन को ''अभी और यहां'' सोचने के उसके सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिपेक्ष्य से स्वतंत्र करना, शिक्षा की मुख्य भूमिका है। यह एक पेचीदा प्रयास है, क्योंकि उसके मस्तिष्क को बिना उस समुदाय से पृथक किए स्वतंत्र करना है जिसमें उसके सारे विचारों का जन्म हुआ था, क्योंकि उसका मूलभूत वैचारिक उपकरण बना ही उसके उन सब अनुभवों से है जो कि उसने समुदाय में जीकर आत्मसात किए हैं।

इस अनुभव के साथ के संपर्क को समाप्त करना उसके वैचारिक उपकरण को खोखला व बेकार कर देना होगा। जबकि दूसरी तरफ अगर इस सम्पर्क की पकड़ कम न की गई तो बच्ची का वैचारिक उपकरण किसी ऐसी नई बात को, ग्रहण नहीं कर सकेगा जिसका कि समुदाय में समावेश नहीं है और हर नई बात को केवल उस समुदाय के सिमित मापदण्डों से ही निर्णित कर पाएगा।

अतः शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया बन जाती है, जिसमें बच्चे मानवता के बारे में जानने, महसूस करने, निर्णय लेने व कुछ कर सकने की क्षमता को ग्रहण कर सकें व बौद्धिक विश्लेषण कर पाने योग्य बनें। इसका तात्पर्य

यह है कि बच्ची को अपने आपको मानवता के विस्तृत समूह के एक हिस्से के रूप में देखना और अपनी कल्पना को मानव जाति के अतीत व उसके भविष्य की कल्पना तक विस्तृत करना सीखना है। ब्रह्माण्ड की विशालता मानव सभ्यता को भी एक बड़ी तथा व्यापक व्यवस्था में स्थापित करती है, यह पूरा चित्रण मानव सभ्यता को समीक्षात्मक मूल्यांकन का विषय बना देता है। यहां सवाल उठते हैं कि- मानव सभ्यता कितनी महत्वपूर्ण है? इसके तौर तरीके कितने उचित हैं? यह भविष्य में क्या दिशा लेगी, या इसे क्या दिशा लेनी चाहिए?

यह सब दिमाग की प्रक्रिया को यहां और अभी से आजाद करने के रूप में देखा जा सकता है। आजादी इस अर्थ में अपने मूल से सम्पर्क तोड़ना नहीं है, बल्कि यह सिर्फ आगे की ओर बढ़ना है।

वर्तमान में शिक्षा के जो तीन सर्वाधिक प्रचारित आदर्श हैं वे चेतना के विस्तार के घोर विरोध में खड़े हैं। हालांकि ये आदर्श उच्च शिक्षा में ज्यादा काम में लिए जाते हैं, पर वे विद्यालयी शिक्षा को भी काफी हद तक प्रभावित करते हुए उसके स्वरूप को गढ़ते हैं।

इनमें से एक आदर्श शिक्षा को पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के लिए बारूदी असला तैयार करने वाली व्यवस्था के रूप में देखता है। लोगो की आर्थिक इच्छाओं पर सवार होकर यह नजरिया केवल बेचे-खरीदे जाने वाले हुनरों पर जोर देता है। जब यह ''वैश्विक नागरिक'' जैसे जुमलो का इस्तेमाल करता है, तब भी इसका तात्पर्य सिर्फ सेवाओं का विस्तार पूरी दुनिया के बाजार में करना होता है, ना कि बाजार की शक्तियों द्वारा उत्पन्न मानव दर्द को समझने का कार्य करना। यह न केवल व्यक्ति को उसकी मूल जड़ों से अलग करता है बल्कि उसे यांत्रिक व आत्मकेन्द्रित भी बनाता है, जहां वह अपनी सोच को विस्तृत करने की बजाय सबको अपने आत्महित के चश्में से ही देख पाता/ती है।

दूसरा आदर्श समाज को समीक्षात्मक दृष्टि से देखने के आग्रह से शुरू तो होता है और शुरू में काफी उम्मीद भी जगाता है। परन्तु जल्दी ही यह नजरिया पहचान की राजनीति से इतना आसक्त हो जाता है, कि फिर यह सिर्फ अपनी खुद की पहचान पर ही केन्द्रित हो जाता है, फिर चाहे वो दलित हों या महिला, अल्पसंख्यक हों या बहुसंख्यक। यह आग्रह विश्वविद्यालय स्तर पर सबसे ज्यादा जाहिर होता है, और एक समुदाय विशेष के साथ किए गए अन्याय के प्रति इतना आसक्त हो जाता है कि संपूर्ण मानवता व मानव कृत्य को केवल उसी अन्याय के चश्मे से देखने लगता है। ऐसे में मानवता के एक हिस्से को उस समग्र चेतना में सम्मिलित करने के बजाए उसे राय बनाने के लिए काम में आने वाली सामग्री के रूप में तब्दील करते हुए जबरदस्ती उससे दूर कर दिया जाता है।

कल्पित पहचान

तीसरा आदर्श, जो कि पिछले 2-3 वर्षों से आकार ले रहा है, वह मूल सामुदायिक अनुभवों की अवहेलना करते हुए एक ही प्रकार की उस चेतना पर जोर देता है जो शुद्ध व कल्पित भारतीय संस्कृति की संकल्पना पर आधारित है। अतः यह अपने मूल समुदाय से जुड़े रहना और चेतना का विस्तार करना - दोनो ही सिद्धांतों का उल्लघंन करता है। यह प्रथम सिद्धान्त के रूप में एक भ्रम को मानता है, जिसमें 'स्व' संकीर्ण रूप से परिभाषित ऐसे सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय आदर्श तक सिमित हो जाता है, जिसे जबरदस्ती भारतीय कहा जाता है।

ये तीनों विस्तृत आदर्श मस्तिष्क को अपनी खुद की परिभाषित सीमाओं तक सीमित रखते हैं। यह सभी सकारात्मक विकास का कुछ तत्व होते हुए भी अंततोगत्वा बच्ची की आत्मछवि को किसी न किसी विशिष्ट ढांचे में गढ़ना चाहते हैं। और ये ढांचे संपूर्ण मानवता के दर्द और खुशी के एहसास, उसकी सफलताओं और खतरों, उसकी नीचता की गहराई और उपलब्धियों की ऊंचाई को साथ शामिल करने में असमर्थ हैं।

हमें शिक्षा के उन आदर्शों पर पुनः जोर देने की आवश्यकता है जो मानव जाति के विशिष्ट तबकों के दर्द को महसूस तो कर सकें, पर ऐसा करते हुए बाकी की उस सभ्यता को अस्वीकार्य भी न करें जो कि मानव जीवन को बनाए रखने वाले आर्थिक तंत्र में, बिना अवरोध बने योगदान देने में सक्षम हों; जो कि हमारे सीमित अनुभवों से पोषण प्राप्त करने और इन अनुभवों को समस्त मानवता को संजोने वाले मूल्यों के तहत देखने में सक्षम हों।

अक्सर इस प्रकार के विचार को चुनौती इस सवाल के साथ दी जाती है कि यह सब तो ठीक है, पर फिर आगे का रास्ता क्या है? समस्या यह है कि ऐसा कोई तैयार नुस्खा उपलब्ध नहीं है जो इन खंडित प्रवृत्तियों का सामना कर सके। परन्तु स्पष्ट चिंतन और सम्पूर्ण मानवता के प्रति संवेदनशीलता, जिम्मेदार होना और अन्य लोगों के न्याय प्राप्ति के संघर्ष से जुड़ना, जैसी चीजें इसके किसी भी संभावित हल का एक आवश्यक हिस्सा जरूर होंगी। अगर हम ऐसा कर पाते हैं, तो आने वाले समय में इन सवालों का कोई ना कोई हल जरूर निकल पाएगा। ◆

भाषांतरण : एकलव्य नंदवाना

लेखक परिचय : अजीम प्रेमजी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर एवं अकादमिक विकास के निदेशक हैं और दिगन्तर, जयपुर के संस्थापक सदस्य व सचिव हैं।

संपर्क : rohit.dhankar@apu.edu.in

शिक्षा के समाजशास्त्रीय सिद्धांत-I

फंक्शनलिज्म (प्रकार्यवाद)

अमन मदान

क्या आपकी शिक्षा व्यवस्था लोगों को मुक्ति प्रदान करती है या वह उन्हें कॉरपोरेट सेक्टर के गुलामों में तब्दील करती है? जब हम राष्ट्रवाद पढ़ाते हैं तो असल में हम क्या प्रयास करते हैं? ऐसा क्यों होता है कि स्कूली पढ़ाई के खत्म होते-होते बहुत सारे विद्यार्थी हताश और दिशाहीन महसूस करने लगते हैं? इन सवालों और ऐसे ही बहुत सारे दूसरे सवालों के जवाब कुछ निश्चित अवधारणाओं पर तथा लोगों को देखने के तरीकों और इस बात पर निर्भर करते हैं कि हम अपनी जिंदगियों में किस तरह का बर्ताव कर रहे हैं। हमारी अलग-अलग मान्यताएं और रुझान हमें बिलकुल अलग-अलग जवाबों तक ले जाते हैं। उनमें से सारे जवाब समान रूप से सही नहीं होंगे और हमें कौन सा जवाब चुनना चाहिए, इसके लिए भी संघर्ष करना पड़ सकता है। हमारे उत्तरों के पीछे अलग-अलग समाजशास्त्रीय सिद्धांत हो सकते हैं और उनमें इस आशय की अलग-अलग कल्पनाएं हो सकती हैं कि सामाजिक जीवन कैसे चलता है। समाजशास्त्र और सामाजिक मानवशास्त्र के सिद्धांत कुछ अवधारणाओं, प्रणालियों और विचार व्यवस्थाओं का सार-संकलन करने और उनका छिद्रान्वेषण करने के तरीके होते हैं जिनसे हमें यह समझने और समझाने में मदद मिलती है कि लोग क्या और क्यों करते हैं। शिक्षा के समाजशस्त्रीय सिद्धांत यह व्यक्त करने का एक मुकम्मल और सटीक तीरका मुहैया कराते हैं कि हमारे हिसाब से शिक्षा के धरातल पर दरअसल क्या चल रहा है। मिसाल के तौर पर, फंक्शनलिस्ट (प्रकार्यवादी) सिद्धांतकार शायद यह कह सकते हैं कि शिक्षा एक समाज के लिए खुद को कायम रखने और आगे बढ़ाने का एक साधन है। इसके विपरीत मार्क्सवादी और वेबरवादी सिद्धांत इस बात पर जोर दें कि शिक्षा दरअसल ताकतवर तबकों के लिए समाज पर अपनी पकड़ बनाये रखने का एक तरीका भी बन सकती है। सिम्बॉलिक इंटरेक्शनिस्ट सिद्धांतकार लोगों के परस्पर संबंधों पर जोर देते हुए यह कह सकते हैं कि शिक्षा के धरातल पर हम पहचान का एक बोध पैदा करने की चेष्टा करते हैं जिससे हमें दुनिया में निपटने में मदद मिलती है। इस प्रकार, आप खुद देख सकते हैं कि हमारे सामने कई तरह के समाज शास्त्रीय सिद्धांत मौजूद हैं। इनको समझने से हमें इस आशय की एक ज्यादा गहरी पकड़ हासिल होती है कि हमारे मुल्क में शिक्षा क्या कर रही है या उसे क्या करना चाहिए। ऐसे बहुत सारे विचार और इन सिद्धांतों के रुझान शिक्षा के प्रति हमारे दैनंदिन बोध का हिस्सा बन चुके हैं भले ही हम वास्तव में इसके प्रति सचेत न हों। इन सिद्धांतों की पड़ताल करके हम अपनी धारणाओं और रुझानों के प्रति और ज्यादा सचेत हो सकते हैं। ये सिद्धांत हमें भारत और शेष दुनिया में शिक्षा को समझने और देखने की बहुत ही पैनी दृष्टि भी सिखा सकते हैं। शिक्षा के विभिन्न समाजशास्त्रीय सिद्धातों के विवेचनात्मक अध्ययन से हमें इस आशय की एक ज्यादा मुकम्मल और स्पष्ट पकड़ हासिल करने में मदद मिलेगी कि हमारी शिक्षा में क्या चल रहा है। जो कुछ हमारी शिक्षा के धरातल पर चल रहा है, उसकी एक ज्यादा साफ तस्वीर हासिल करके हम यह भी देख पाएंगे कि इसकी बजाय क्या होना चाहिए- जो चल रहा है उसी को और सींच जाना चाहिए या उसको बदलना चाहिए।

शिक्षा की भूमिकाएं

एक अहम सवाल जो शिक्षा के बारे में पूछा जा सकता है वह कुछ यों होता है: रोजमर्रा जिंदगी के बहुत सारे बारीक विवरणों के परे बुनियादी तौर पर समाज में शिक्षा दरअसल करती क्या है?

समाजशास्त्रीय चिंतन में फंक्शनलिज़्म (प्रकार्यवाद) नामक धारा ने इस सवाल का जवाब देने के लिए यह समझने का प्रयास किया है कि शिक्षा एक मौजूदा सामाजिक व्यवस्था को कायम रखने और उसे स्थिरता प्रदान करने में अपनी भूमिका किस तरह अदा करती है। फंक्शनलिस्ट यह देखने का प्रयास करते हैं कि समाज के अलग-अलग हिस्से किस तरह "कार्य" करते हैं ताकि समाज सहज चलता रहे। उनकी मुख्य दिलचस्पी यह देखने में होती है कि शिक्षा इसमें किस तरह का योगदान देती है कि समाज अच्छी तरह चलता रहे और उसकी जरूरतें पूरी होती रहें।

प्रकार्य या फंक्शन की अवधारणा इस धारा की चारित्रिक विशिष्टता है और यह अवधारणा मूल रूप से जीव विज्ञान से ली गई है। उन्नीसवीं शताब्दी के जीव वैज्ञानिकों में यह धारणा काफी लोकप्रिय थी कि शरीर के विभिन्न अंग, जैसे कि फेफड़ा आदि बहुत महत्वपूर्ण "कार्यों" का निर्वाह करते हैं जिससे पूरा शरीर स्वस्थ रहता है। उन वैज्ञानिकों के अनुसार, इन अंगों का सर्वोपरि कार्य यह सुनिश्चित करना है कि संबंधित पशु जीवित और सक्रिय रहे। इसी सोच को सामाजिक जगत पर आरोपित करते हुए फंक्शनलिस्टों ने कहा कि शिक्षा या परिवार या धर्म आदि सामाजिक संस्थाओं की भी समाज को सक्रिय और कायम रखने में एक निश्चित भूमिका होती है। प्रत्येक समाज वयस्कों द्वारा निर्वाह की जाने वाली जटिल गतिविधियों की एक श्रृंखला के जरिए अस्तित्व में रहता है। अगर बच्चे उन सारी गतिविधियों को नहीं सीखते हैं तो वयस्कों के बूढ़ा होने के साथ ही समाज भी दम तोड़ने लगेगा और अगली पीढ़ी भी भूखों मर जाएगी क्योंकि उनमें से किसी के पास भी भोजन पैदा करने या अपनी देखभाल करने की क्षमता नहीं होगी। लिहाजा, शिक्षा किसी समाज के नए सदस्यों को वयस्क भूमिकाओं के लिए तैयार करने का एक साधन होती है। जैसा कि फंक्शनलिस्ट कहते हैं, समाजीकरण अथवा किसी समाज के विश्वासों, उसके तकनीकी व्यवहारों व संबंधों आदि को सीखना-आत्मसात करना उस समाज की फंक्शनल आवश्यकता होती है और शिक्षा इस बुनियादी जरूरत को पूरा करने की भूमिका निभाती है। उनके हिसाब से यह शिक्षा की मुख्य भूमिकाओं में से एक है।

भारतीय शिक्षा में हमारे बहुत सारे उद्देश्यों की पूर्ति के मामले में यह फंक्शनलिस्ट पद्धति बहुत ताकतवर रूप से सामने आती है। आजकल शिक्षा के माध्यम से कौशलों को बढ़ावा देने का बहुत शोर मचाया जा रहा है। ऐसे लोगों की समझ फंक्शनलिस्ट पद्धति के समानांतर दिखायी पड़ती है। वे भी यही कहते हैं कि हर समाज को निश्चित कौशलों व ज्ञान की आवश्यकता होती है जो स्कूलों और सहायक शिक्षा व्यवस्थाओं के जरिए मुहैया कराए जाने चाहिए। दूसरी तरफ ऐसे लोग भी हैं जो चाहते हैं कि शिक्षा विभिन्न समुदायों और वर्गों के बीच शांति व सौहार्द बहाल करने का साधन बने। यह अपेक्षा भी शिक्षा की भूमिकाओं से ही जुड़ती है। वे तमाम लोग जो यह उम्मीद रखते हैं कि शिक्षा पूरे समाज के लिए कुछ लाभदायक योगदान दे और सिर्फ हमारी स्वार्थपूर्ति और मनमानी ख्वाहिशों को पूरा करने का साधन भर न रह जाए, उन्हें फंक्शनलिस्ट दृष्टिकोण के कुछ तर्क निश्चय ही दिलचस्प मालूम पड़ेंगे। फंक्शनलिस्ट धारा में कुछ-कुछ उनके जैसे ही रूझानों की अनुगूंज सुनाई पड़ेगी। यह हमारे लिए एक अहम वजह है जिसके चलते हमें फंक्शनलिज़्म का, खासतौर से उसके बारे में पेश की गई आलोचनाओं का विवेचनात्मक ढंग से मूल्यांकन करना चाहिए। इससे हमें कुछ गलतियों को पहचानने और उनसे बचने में मदद मिलेगी।

बीसवीं शताब्दी के मध्य में फंक्शनलिज़्म की लोकप्रियता सातवें आसमान पर थी। एमिल दुर्खाइम (1982), ब्रॉनिस्लॉ मेलिनॉव्स्की (1961) और ए. आर. रेडक्लिफ ब्राऊन (1952) जैसे बहुत सारे चोटी के समाजशास्त्री इस धारा के प्रतिनिधि थे। शिक्षा के क्षेत्र में यह धारा विभिन्न प्रकार के स्कूलों के साझा सामाजिक प्रकार्यों को पहचानने का प्रयास करती थी। उन्होंने कहा कि शिक्षा समाजीकरण के अलावा दूसरे प्रकार्यों को भी सींचती है। बेहद सरल समाजों में शिक्षा सामाजिक विभेदीकरण का साधन भी मानी जाती थी। बहुत ही सरल समाजों में प्रत्येक व्यक्ति कमोबेश एक जैसा ही काम कर रहा था लिहाजा आपको स्कूल जैसे विशेष और पृथक संस्थान की आवश्यकता ही नहीं थी।

शिकारी-संग्राहक समाजों में बच्चे दिन-प्रतिदिन वयस्कों को काम करते हुए देखते बड़े होते थे। इस तरह वे भी उनकी तरह काम करना सीख जाते थे। नकल व अनुकरण के माध्यम से उनकी भावनाएं व प्रवृत्तियां भी वैसी ही बन जाती थीं। ऐसे समाज में यह कल्पना करना भी अजूबा होता कि कोई बैठकर किसी को सोची-समझी नसीहतें और निर्देश दिया करे। उन्हें यह बात बहुत बेतुकी मालूम पड़ती। मगर जैसे-जैसे श्रम और तकनीक अधिकाधिक परिष्कृत होते गए, चीजों को सिर्फ देख-देख कर सीखना संभव नहीं रहा। सभी समाजों में अलग-अलग तरह की भूमिकाएं सामने आईं और एक तरह के परिवारों में पैदा होने वाले बच्चों को दूसरे प्रकार के परिवारों में होने वाली गतिविधियों को देखने के अवसर मिलना भी बंद होने लगे। एक किसान के बच्चे को कभी-कभार ही यह देखने का मौका मिल सकता था कि एक लुहार कैसे काम करता है। उसे लुहार की भट्टी के पास खड़े होकर लोहे के टुकड़ों को आग में तपाकर, हथौड़े से पीट-पीटकर नई-नई शक्लों में ढालते देखना चाहे कितना भी अच्छा लगता, एक किसान के बच्चे के पास खुद यह काम करके सीखने की गुंजाइश नहीं बची थी। ऐसे समाजों में बच्चों के लिए उन भूमिकाओं को सीखना आसान नहीं रह गया था जो उनके परिवार वाले उन्हें नहीं सिखा सकते थे। टेल्कॉट पार्सन्स जैसे फंक्शनलिस्टों ने कहा कि स्कूल इस तरह की सामाजिक जटिलता का मार्ग प्रशस्त करने का एक माध्यम है, वे विविध पृष्ठभूमियों के बच्चों को एक जगह इकट्ठा करके उन्हें नई सामाजिक भूमिकाएं पढ़ाते हैं। इस प्रकार, इस धारा के चिंतकों के अनुसार शिक्षा की दूसरी भूमिका है सामाजिक विभेदीकरण को कायम रखना।

सामाजिक एकजुटता बनाये रखना शिक्षा की तीसरी भूमिका बताया गया है। हर समाज बहुत सारे व्यक्तियों से मिलकर बनता है। समाज यथावत विद्यमान रहे, इसके लिए जरूरी है कि ये सभी लोग मिलकर काम करें और साथ रहें। यहां तक कि महज एक परिवार के स्तर पर भी इस स्थिति को कायम रखने के लिए विशेष प्रयासों की आवश्यकता हो सकती है। शिक्षा की एक महत्वूपर्ण भूमिका यह है कि वह लोगों में साहचर्य और एकबद्धता का एहसास पैदा करे। अत्यंत सरल समाजों में बहुत ही थोड़े लोग होते थे और वे रोज ही मिल-बैठते थे। तीज-त्याहारों और अनुष्ठानों के जरिए वे एक-दूसरे से बंधे रहते थे। मगर, जैसे-जैसे सामाजजिक विभेदीकरण बढ़ा, यह स्थिति अधिकाधिक जटिल होने लगी। कई दूसरी तरह के सामाजिक भेद भी पैदा होने लगे। हो सकता है कोई समाज फतह या प्रवासन के फलस्वरूप एक साथ आ जुटे अलग-अलग समुदायों से मिलकर बना हो। संभव है कि उनमें से हर समुदाय की एक पहचान हो और वह दूसरे समुदायों के साथ दोस्ताना संबंध रखते हुए भी अपनी पहचानों को कायम रखना चाहता हो। हो सकता है कि अलग-अलग समुदायों के सदस्य समाज में भूमिकाएं भी अलग-अलग निभाते हों। फंक्शनलिस्टों के मुताबिक भूमिकाओं का यह विभेदीकरण मानव समाजों के विकास में एक महत्वपूर्ण संक्रमण था और इसने नई चुनौतियों को जन्म दिया। अगर समाज में कई समुदाय होंगे तो पूरे समाज की साझा संस्कृति कौन पढ़ाएगा। कैसे लोग वृहत्तर समुदाय का हिस्सा महसूस करेंगे? प्रत्येक समुदाय साधारण समाजीकरण के माध्यम से केवल अपनी खास संस्कृति ही पढ़ा सकता था। इस स्थिति में ऐसे निश्चित संस्थानों की जरूरत महसूस की जाने लगी जो बच्चों को विभिन्न प्रकार के ऐसे ज्ञान और व्यवहारों की शिक्षा भी दे सकें जो उनके अपने परिवार उन्हें नहीं पढ़ा सकते थे- और यह संस्था थी स्कूल।

अतिसरलीकृत फंक्शनलिज़्म के खतरे

फंक्शनलिस्टों की एक आलोचना उनकी इस परोक्ष मान्यता के कारण रही है कि समाज में जो कुछ भी हो रहा है वह अच्छा ही है क्योंकि वह समाज की एक खास संरचना को कायम रखने में योगदान देता है। मान लीजिए, जैसा कि भारत में होता रहा है और कई इलाकों में अभी भी हो रहा है, दलितों को इस आशय की कहानियां और जनश्रुतियां सुनाई जाती हैं कि वे आज गरीब और दीन हीन हैं तो केवल इसलिए क्योंकि उन्होंने पिछले जन्म में बड़े गंभीर पाप किए थे। फंक्शनलिस्टों की दिलचपी केवल यह समझने में होगी की ये कहानियां एक खास सामाजिक संरचना को कायम रखने में किस तरह अपना योगदान देती हैं। बहुत सारे प्रारंभिक फंक्शनलिस्ट कह सकते हैं कि यह ऐसी शिक्षा थी जो दलितों को समाज में अपनी जगह को स्वीकार करने का पाठ पढ़ाती थी। यह शिक्षा सामाजिक विभेदीकरण को कायम रखने में मददगार थी क्योंकि यह दलितों को जाति व्यवस्था पर सवाल उठाने से रोकती थी क्योंकि उन्हें विश्वास

हो जाता था कि उनकी गरीबी और उनका उत्पीड़न खुद उनके ही दोष का परिणाम है; उनकी दुर्दशा में तथाकथित ऊंची जातियों का कोई दोष नहीं है और इससे सामाजिक एकजुटता बनी रहती थी। मगर, दूसरी धाराओं के सिद्धांतकारों का कहना है कि इस तरह की व्याख्याओं के माध्यम से फंक्शनलिस्ट एक गलती कर रहे थे - वे मौजूदा समाज में विद्यमान व्यवहारों का मूल्यांकन किए बिना उनको जायज ठहराने के लिए प्रतिबद्ध थे। रॉबर्ट मेर्टन (1968) जैसे कई बाद के फंक्शनलिस्ट समाजशास्त्रियों ने कहा है कि यह पूछते रहना बहुत आवश्यक है कि समाज की बुनियादी जरूरतें पूरा करने के दूसरे तरीके भी हो सकते हैं या नहीं, जोकि शायद मौजूदा तरीकों से बेहतर और ज्यादा न्यायपूर्ण हों। मिसाल के तौर पर, यदि दलितों को नियति में विश्वास के बंधन से मुक्त कर दिया जाए तो यह एक ज्यादा बेहतर रास्ता होगा; तब शायद खेतों में मजदूरी के नए और ज्यादा न्यायसंगत तरीके ढूंढने की संभावना पैदा होगी। पिछले जन्मों के पाप की कहानी केवल ऊंची जातियों के लोगों के लिए सहायक थी, दलितों के लिए नहीं।

और यह भी हो सकता है कि जो शिक्षा हमें जाति व्यवस्था में आस्था का पाठ पढ़ा रही थी उसे असल में उसके विद्यार्थी मानने की बजाय चुपचाप खारिज करते चले जा रहे हों। क्या दलितों ने वाकई उन मिथकों और दर्शनों पर विश्वास किया है जो उन्हें पढ़ाये जा रहे थे। इसकी पुष्टि करना मुश्किल है। इस बात की साक्षी भी स्वयं दलितों से नहीं बल्कि ऊंची जतियों के ही चंद लागों की ओर से सुनने को मिलती है। बहुत मुमकिन है कि नियति और पुनर्जन्म की कहानियां सवर्णों ने सुनाई हों मगर दलित उनके झांसे में न आ पाए हों। हो सकता है कि वे भी औरों की तरह अपने हालात को सुधारने के लिए तत्पर हों, चाहे शिक्षा के माध्यम से या किसी और तरह से। ऐसे में उनके आगे न बढ़ पाने की वजह उनकी सांस्कृतिक पृष्ठिभूमि नहीं बल्कि सत्ता और संपदा का अभाव रही होगी।

फंक्शनलिज़्म की कुछ दूसरी कमियां भी गिनाई जाती रही हैं जिन पर हम अब बात करेंगे। यहां अपने आपको यह याद दिला देना बेहतर होगा कि तमाम समस्याओं के बावजूद समाज के लिए शिक्षा की भूमिका का विचार अभी भी एक महत्वपूर्ण विचार है। एक बुनियादी अर्थ में शिक्षा निश्चय ही समाज के संचालन में योगदान देती है, इसके बिना कोई समाज लंबे समय तक कायम नहीं रह सकता। इसकी वजह यह है कि जब एक खास पीढ़ी के लोग बूढ़े हो जाते हैं तो या तो समाज उनके साथ छीजने लगता है या उनके साथ दम तोड़ने लगता है। शिक्षा इसलिए लाजिमी है क्योंकि यह समाज का प्रजनन करती है और उसे जिंदा बनाए रखती है। उसका काम यह नहीं है कि वह समाज को ठीक वैसा ही बनाए रखे जैसा वह पिछली पीढ़ी में था बल्कि बहुधा बदलने और उसका रूपांतरण करने में भी योगदान देती है। हर अलग वैचारिक अवस्थिति जो मौजूदा दुनिया से अलग दुनिया रचना चाहती है, उसे उन सवालों से जूझना ही पड़ता है जिनसे फंक्शनलिज़्म जूझता रहा है। चाहे हम एक सोशलिस्ट यूटोपिया रचना चाहते हों या एक पूंजीवादी वैश्विक बाजार बनाना चाहते हों, चाहे हम हिंदुत्व द्वारा शासित दुनिया रचना चाहते हों या इस्लाम के दबदबे की दुनिया चाहते हों या धर्मनिरपेक्ष चरित्र वाला समाज रचना चाहते हों, आखिरकार हमें उस दिशा में बढ़ने के लिए एक खास तरह की शिक्षा की जरूरत होगी ही; और तब फंक्शनलिस्ट सवाल एक बार फिर प्रासंगिक हो जाएंगे। हम इस समाज का समाजीकरण कैसे करेंगे, इस समाज में किस तरह का सामाजिक विभेदीकरण होना चाहिए, उसको कैसे जारी रखा जाए, यह वैश्विक समाज किन सूत्रों में बंधकर परस्पर जुड़ा रहेगा, वगैरह। रॉर्बट मेर्टन के सुर में सुर मिलाते हुए हम यह कह सकते हैं कि फंक्शनलिज़्म का महत्व यह है कि उसने हमारा ध्यान इन सवालों की ओर आकृष्ट कराया है और हमें हर क्षण इस बात के प्रति सावधान रहना चाहिए कि आज जो कुछ किया जा रहा है या जो भी शैक्षिक गतिविधि की जा रही है, जरूरी नहीं कि वह हमेशा लाभदायक और उपयोगी ही हो।

आज के जटिल समाजों में शिक्षा की भूमिकाएं

इन एहतियातों को जेहन में रखते हुए अब हम कुछ ऐसी अवधारणाओं और प्रक्रियाओं की पड़ताल कर सकते हैं जो शिक्षा के फंक्शनलिस्ट सिद्धांतकारों ने जटिल समाजों में स्कूलों और उच्च शिक्षा के बारे में सूत्रबद्ध की हैं। इनसे हमें इस बारे में कुछ अंदाजा जरूर मिलेगा कि आज हमें भारत और दुनिया के दूसरे हिस्सों में क्या करना चाहिए। एमिल दुर्खाइम और कई दूसरे समाजशात्रियों ने इस बात को चिह्नित किया है कि अलग-अलग समाजों में शिक्षा का योगदान

अलग-अलग ही होगा। अब हम इस बात को समझ सकते हैं कि जटिल सामाजिक संरचनाओं के मुकाबले सरल सामाजिक संरचनाओं के लिए इसका अर्थ कितना भिन्न होगा। एक जटिल औद्योगिक समाज के प्रसंग में दुर्खाइम (1956) ने कहा था कि शिक्षा को कम से कम तीन महत्वपूर्ण भूमिकाएं अदा करनी हैं। पहली भूमिका से हम पहले ही भली-भांति परिचित हैं। यानी, शिक्षा के माध्यम से बच्चों को सामाजिक अस्तित्व के मूलभूत तत्वों से अवगत कराना। जटिल समाजों में गतिविधियों की शृंखला और बहुलता इतनी व्यापक होती है कि कोई भी परिवार अकेले अपने बच्चे को वे सारी चीजें नहीं पढ़ा सकता जो उस समाज में जीने के लिए आवश्यक होंगी। अगर कोई परिवार अकेले ही अपने बच्चों को यह पढ़ाने लगे कि डीजल इंजन कैसे चलता है और संसदीय लोकतंत्र कैसे काम करता है, टीकों का क्या महत्व होता है और साफ-सफाई की क्या भूमिका है, तो यह किसी भी परिवार के लिए एक नामुमकिन लक्ष्य बन जाएगा। लिहाजा, यह जटिल समाजों की विशिष्टता बन गया कि इस काम को अंजाम देने के लिए विशेषज्ञ शैक्षिक संस्थानों की स्थापना की जाए।

दुर्खाइम के अनुसार शिक्षा की दूसरी भूमिका ये है कि वह बच्चों को एक ऐसी संस्कृति का पाठ पढ़ाए जिससे जैविक एकजुटता या आंतरिक एकजुटता पैदा हो। जैविक एकजुटता एक ऐसी स्थिति है जिसमें विविध व्यवसायों से जुड़े समूह और सांस्कृतिक समूह आसानी से एक साथ रह सकें। जटिल समाजों में विविधता इतनी ज्यादा हो जाती है कि परिवार या व्यावसायिक अथवा अन्य प्रकार के समूह केवल अपने दम पर अपने बच्चों को जैविक एकजुटता का पाठ नहीं पढ़ा सकते। ये सारे समाजिक समूह केवल अपने ऊपर तथा अपनी जरूरतों के ऊपर ही ध्यान केंद्रित करते रह जाते हैं। ऐसे संबंधित समूह केवल अपनी संस्कृति ही पढ़ा सकते हैं। लिहाजा, समाज को ऐसे संस्थानों की आवश्यकता पड़ी जो सामाजिक अस्तित्व की एक ज्यादा व्यापक दृष्टि प्रदान करें और ऐसे विचारों व मूल्यों की शिक्षा दें जो इस जटिल समाज को एकसूत्र में बांधने की एक जैविक एकजुटता पैदा कर सकें। दुर्खाइम के मुताबिक यह जटिल समाजों में शिक्षा की एक अहम भूमिका थी। उनका विश्वास था कि केवल राज्य ही इस या उस सामाजिक समूह के खास हितों के परे जाकर देख सकता था। लिहाजा जटिल समाजों में सरकारी स्कूलों को केंद्रीय भूमिका में आना पड़ा। केवल सरकारी स्कूल ही ऐसी तटस्थता और समावेशी दृष्टि अपना सकते थे जिसकी आधुनिक समाजों में इतनी सख्त जरूरत पैदा हो गई थी।

शिक्षा की तीसरी उपयोगिता जटिल समाजों के एक और अहम आयाम से जुड़ती है। शिक्षा से अपेक्षा की जाती थी कि वह सिर्फ समूह के कहे अनुसार चलने की बजाय हमें अपने बारे में सोचने की क्षमता भी सिखाए। जटिल समाजों में जिंदा रहने के लिए लोगों का ज्यादा व्यक्तिवादी होना जरूरी था। जटिल समाजों में पैदा होने वाली नई और पेचीदा समस्याओं को हल करने के लिए लोगों में अभिनव और नई सोच पैदा करने के लिए भी यह व्यक्तिवादी रवैया अनिवार्य था। छोटे और धीमी गति से चलने वाले समाजों में शिक्षा केवल परंपरा पर जोर देते हुए और "जो हमेशा होता आया था" उसको करते हुए भी अपना काम चला सकती थी। इसके विपरीत, तेज रफ्तार समाजों में जीने के लिए रचनात्मकता और नित नई सोच एक अनिवार्य आवश्यकता थी और यह केवल तभी संभव था जब कोई व्यक्ति अपने सामाजिक समूह के मार्गदर्शन और नसीहतों का इंतजार करते रहने की बजाय अपने बारे में भी सोचना सीखे।

विकासशील देशों में मौजूद असंख्य प्रकार के सामाजिक समूहों के संदर्भ में दुर्खाइम के विचारों की यह व्याख्या हो सकती है कि लोगों में समुदाय और राष्ट्रीय पहचान का बोध निर्मित करना शिक्षा का एक महत्वपूर्ण कार्यभार है। मगर दुर्खाइम हमें इस बात की चेतावनी भी देते हैं कि यह काम ऐसे एकाश्म/मोनोलिथिक अथवा एक-सांस्कृतिक अथवा मोनोकल्चरल ढंग से अंजाम नहीं दिया जा सकता जिसमें एक ही संस्कृति को सारे सामाजिक समूहों पर थोप दिया जाता है। इसी वजह से दुर्खाइम का यह मानना था कि जटिल समाजों में धर्म यह भूमिका अदा नहीं कर सकता। इसकी बजाय शिक्षा को राष्ट्रीय पहचान का एक बोझ पैदा करना था जो देश में मौजूद सारी पहचानों को एक दूसरे में गूंथ दे। साथ ही उसे इन्डॉक्ट्रिनेशन के रास्ते से भी बचना था जिसमें प्रभुत्वशाली संस्कृति को जोर-जबर्दस्ती के जरिए और असहमति रखने वालों या दूसरी सांस्कृतिक परंपराओं से आए लोगों को अपमानित करके सिखाया जाता है। इसकी बजाय आलोचना और संवाद की संभावना को बचाए रखना, यहां तक कि उसको प्रोत्साहन देना भी जरूरी था ताकि

व्यक्तिगत भिन्नताओं को सहज समोया जा सके और फिर भी एक वृहत्तर पहचान का हिस्सा होने का बोध सींचा जा सके।

जटिल समाजों में शिक्षा और सार्वभौमवाद

बहुत सारे फंक्शनलिस्ट चिंतक सामाजिक जीवन में सार्वभौमवाद के प्रश्न को लेकर चिंतित रहे हैं। जटिल, बड़े पैमाने के समाजों में केवल एक खास समुदाय के इर्द-गिर्द केंद्रित मूल्य-मान्यताएं और संस्कृति तमाम संभावित परिस्थितियों के लिए पर्याप्त नहीं हो सकती थीं। मान लीजिए कि किसी स्कूल के प्रिंसिपल को उनके अपने इलाके से आए या उनकी अपनी भाषा को बोलने वाले अथवा उनके धर्म को मानने वाले बच्चों पर ज्यादा ध्यान देना हो और उन्हें ज्यादा अंक देने हों तो यह स्थिति एक ऐसे बड़े स्कूल में निश्चय ही स्वीकार्य नहीं होगी जहां बहुत सारे अलग-अलग समुदायों के बच्चे आकर पढ़ते हों। ऐसा होने पर न केवल बहुत सारे बच्चों के मां-बाप शिकायतें लेकर स्कूल पर टूट पड़ेंगे बल्कि इससे अध्यापकों में भी बहुत सख्त खेमे बन जाएंगे। बहुत सारे राजनीतिक वैज्ञानिकों के साथ-साथ फंक्शनलिस्ट भी यही मानते रहे हैं कि हमें एक साझा वातावरण के रूप में एक सार्वभौम संस्कृति की आवश्यकता है जिसमें अलग-अलग समुदायों के लोग एक समान रूप से सम्मिलित महसूस करें और जहां सबके साथ एक जैसा बर्ताव हो। बहुत सारी स्थानीय संस्कृतियों को खत्म किये बिना लोगों को एक-दूसरे से जोड़ने में सक्षम एक सार्वभौम संस्कृति बहुत सारे फंक्शनलिस्टों के लिए एक महत्वपूर्ण लक्ष्य रही है हालांकि उनमें इस बात को लेकर फर्क जरूर रहा है कि स्थानीय संस्कृतियों को वे कितना सम्मान या महत्व देना चाहते हैं।

अमेरिकी समाजशास्त्री टेलकॉट पार्सन्स ने स्कूल की कक्षाओं में इन सार्वभौम संस्कृतियों के स्थान का विश्लेषण किया है। उनके तर्क का मूल बिंदु अमेरिकी स्कूलों के उनके फंक्शनलिस्ट विश्लेषण से पैदा होता है। इस विश्लेषण के बल पर उन्होंने तर्क दिया कि अमेरिकी स्कूली शिक्षा दो मुख्य भूमिकाएं अदा करती है। दूसरे फंक्शनलिस्टों की तरह उन्होंने भी कहा कि स्कूलों से बच्चों का समाजीकरण करने की उम्मीद की जा रही है। यानी वे बच्चों को ऐसी बुनियादी सांस्कृतिक क्षमताएं सिखाते हैं जो समाज में जीने के लिए आवश्यक होती हैं। इसका मतलब न केवल महत्वपूर्ण ज्ञान और व्यवहार के तौर-तरीकों से है बल्कि समाज में विभिन्न भूमिकाओं को अदा करने के लिए आवश्यक भावनात्मक और संज्ञानात्मक प्रतिबद्धताओं की शिक्षा से भी है। इस तरह, शिक्षक शिक्षा कॉलेजों में अध्यापक को न केवल अपने व्यवसाय या विषय की सामग्री को जानना व सीखना होगा बल्कि उस व्यवसाय के प्रति एक लगाव पैदा करना होगा और बच्चों के साथ उसको बांटने में गहरे संतोष का भाव महसूस करना होगा। एक अध्यापक के सही समाजीकरण के लिए इस तरह की प्रतिबद्धता को सीखना और आत्मसात करना अनिवार्य था। पार्सन्स के मुताबिक शिक्षा का दूसरा काम था समाज में अलग-अलग भूमिकाओं को अलग-अलग व्यक्तियों के बीच बांटना। यानी शिक्षा को यह तय करना था कि कौन, मिसाल के तौर पर, अध्यापक की भूमिका के लिए सर्वोपयुक्त होगा और कौन किसी अन्य व्यवसाय के लिए उपयुक्त होगा। तत्पश्चात शिक्षा व्यवस्था उन्हें उन संबंधित दिशाओं में अपनी पढ़ाई जारी रखने के लिए भेजे।

ये ऐसे कार्यभार थे जिनकी जटिल समाजों के सभी स्कूलों और कॉलेजों से निर्वाह करने की उम्मीद की जाती थी। पार्सन्स ने बताया कि अमेरिकी स्कूलों द्वारा इन कार्यभारों की पूर्ति एक सार्वभौम सामाजिक संरचना एवं संस्कृति की आवश्यकता से जुड़ी हुई थी। उन्होंने बताया कि अमेरिकी प्रारंभिक/एलिमेंटरी स्कूल की कक्षा हमेशा एक शिक्षक के जिम्मे होती है, यह शिक्षक आमतौर पर एक महिला होती है और कक्षा में आसपास की बस्तियों में रहने वाले बच्चे होते हैं। उनके अनुसार, बच्चों के साथ अध्यापिका का संबंध प्रेमपूर्ण होता था मगर यह संबंध परिवार के भीतर बनने वाले संबंधों से गुणात्मक रूप से भिन्न था। परिवार के भीतर बच्चों की भूमिका उनकी उम्र, लिंग और भाई बहनों में उनके क्रम से तय होती थी। कहने का मतलब यह है कि उनकी भूमिकाएं मुख्य रूप से पूर्वनिर्धारित यानी एस्क्राइब्ड होती थीं। इसके विपरीत, स्कूल में इस बात पर जोर नहीं दिया जाता था कि आप किस परिवेश में पैदा हुए हैं बल्कि इस पर जोर दिया जाता था कि आपकी उपलब्धि क्या है। बच्चों को ऐसे टास्क सौंपे जाते थे जिनको उन्हें पूरा करना होता था और उनकी स्वीकृति और लगाव इस बात पर निर्भर करता था कि उन्होंने अपने काम को कितनी अच्छी

तरह अंजाम दिया है। यह स्थिति परिवार के समीकरण से बिल्कुल उलट थी जहां प्रेम का सिर्फ एकमात्र आधार यही था कि बच्चा उस परिवार का सदस्य है।

पार्सन्स ने तर्क दिया कि इसकी वजह से स्कूल एक ऐसी जगह बन जाता है जहां बच्चे उपलब्धि के अमेरिकी सामाजिक मूल्य को पहचानते और सीखते है। इसके साथ ही वहां व्यक्तिवाद का सामाजिक मूल्य भी सींचा जाता है। परिवार में व्यक्तिवाद को आमतौर पर हतोत्साहित किया जाता था और सामूहिक काम को सराहना और प्रोत्साहन मिलता था। इसके विपरीत स्कूल की कक्षा में सफलता और असफलता के बीच सबसे भारी फर्क व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों पर ही आधारित होता था। व्यक्तिवाद और सार्वभौमवाद दोनों ही ऐसे सामाजिक मूल्य थे जो अमेरिकी समाज और संस्कृति का केंद्र थे। मगर बहुत सारे दूसरे समाजों के लिए वे इतने महत्वपूर्ण नहीं होंगे, खासतौर से ऐसे समाजों के लिए, जो आकार में छोटे हैं और कमोबेश एक-दूसरे की नजरों से ओझल रहने वाले छोटे-छोटे समूहों के जरिए चलते हैं।

हो सकता है कि पार्सन्स ने ऐसी कुछ समस्याओं को नजरअंदाज भी कर दिया हो जिनसे अमेरिकी स्कूल जूझ रहे थे। उनमें बहुत सारी ऐसी सामाजिक असमानताएं थीं और आज भी मौजूद हैं जो व्यवहार के धरातल पर उन सामाजिक मूल्यों को क्षीण करती हैं जो, पार्सन्स के मुताबिक, उनके समाज के लिए लाभदायक हो सकती हैं। बहरहाल पार्सन्स और इसी तरह के दूसरे फंक्शनलिस्टों के विचारों से हमें इस बारे में सोचने में मदद मिलती है कि भारत जैसे किसी देश के लिए किस तरह के स्कूल बेहतर हो सकते हैं। एक ऐसा समाज, जहां जाति, वर्ग, धर्म और जेंडर विभिन्न मनुष्यों के बीच भेदभाव और पक्षपात की बहुत मजबूत धुरियां रही हैं, वहां पार्सन्स हमें याद दिलाते हैं कि सार्वभौमवाद को शिक्षा व्यवस्था का केंद्रीय स्तंभ बनाया जाना अनिवार्य है। यहां हम विविधताओं और बहुल संस्कृतियों को सींचने और सुरक्षा प्रदान करने के महत्व को भी जोड़ दें तो बेहतर होगा। फिर भी, सार्वभौमवाद के महत्व से असहमत होना मुश्किल है यानी इस सिद्धांत से असहमत होना मुश्किल है कि समाज के केंद्रीय नियम और प्रक्रियाएं सभी पर समान रूप से लागू हों और समाज के घटक बिल्कुल अलग-थलग नहीं होने चाहिए। जाति व्यवस्था की संस्कृति अलग-अलग जातियों के वास्ते पृथक कानूनों के लिए बहुत मुश्किल पड़ती है। मगर एक बड़े स्तर का जटिल समाज तब ज्यादा बेहतर काम कर सकेगा जब उसमें मौजूद सभी अलग-अलग समुदायों पर बुनियादी सामाजिक विश्वास और मानक समान रूप से लागू हों। एक ऐसी स्कूली व्यवस्था तथा कक्षा संस्कृति रचना, जो मुख्य रूप से एस्क्राइब्ड/प्रदत्त पहचानों पर नहीं बल्कि उपलब्धि पर केंद्रित हो, वह सामाजिक एकीकरण में भारी मदद दे सकती है और हमारे देश की एकबद्धता को क्षीण करने वाले विभाजकों को दूर करने में मदद दे सकती है। मिसाल के तौर पर, अगर हम चाहते हैं कि कश्मीर या पूर्वोत्तर के युवा खुद को भारत का अभिन्न अंग महसूस करें तो यह जरूर है कि हम एक ऐसी संस्कृति रचें जिसमें दिल्ली या बंगलौर या कहीं और पढ़ने-लिखने या काम करने के लिए जाने पर इन क्षेत्रों के युवाओं को छूटा हुआ, अलग-थलग या अपनी इलाकाई पहचान के आधार पर अपमानित महसूस न करना पड़े। ऐसे सार्वभौम सामाजिक मूल्य जो भारत को रचने वाले सभी अलग-अलग सामाजिक समूहों को समाहित कर सकें, ऐसे सार्वभौम सामाजिक मूल्य जो इस बात पर जोर न दें कि, उदाहरण के लिए, केवल उत्तर भारतीय सवर्ण मूल्य-मान्यताएं ही मायने रखती हैं, ऐसे सामाजिक मानकों को हमारी स्कूली शिक्षा का आधार बनाया जाना चाहिए।

आज के दौर में सार्वभौमवाद की चुनौती को दुर्खाइम जैसे फंक्शनलिस्टों ने रेखांकित किया है। वह आगाह करते हैं कि अगर हम शिक्षा को अपने जटिल समाजों के लिए प्रासंगिक बनाना चाहते हैं तो हमें उसके माध्यम से अनिवार्य रूप से एक ऐसी संस्कृति सिखानी चाहिए जो अनेकता और प्रयोगवाद को स्वीकार करे। जो स्कूल सार्वभौमवाद को प्रोत्साहन देते हैं उन्हें यह काम इस तरह करना चाहिए कि रचनात्मकता और व्यक्तिवाद को प्रोत्साहन मिले। यह काम करना शायद आसान न हो मगर ज्यादा परिष्कृत फंक्शनलिस्ट बताते हैं कि अगर हम सामाजिक एकजुटता विकसित करना चाहते हैं तो हमारी शिक्षा व्यवस्था को बहुमतवाद से दूर रहना चाहिए और इसके स्थान पर एक बहुलवादी सामाजिक संरचना का विकास करना चाहिए। यह काम एक बेहतर और ज्यादा न्यायसंगत ढंग से कैसे अंजाम दिया जाए, यही वह रचनात्मक चुनौती है जिसका हमारे पाठ्यचर्या एवं पाठ्यपुस्तक लेखकों को उत्तर ढूंढना होगा।

भारतीय शिक्षा का मार्गदर्शन करने के लिए फंक्शनलिस्टों के पास बहुत सारे उपयोगी सुझाव हैं। दूसरी तरफ फंक्शनलिस्ट पद्धति में कुछ खास तरह की सीमाएं और कमजोरियां भी हैं। इनमें से कुछ खामियों की तरफ इस लेख में इशारा किया गया है। अगले अध्याय में हम कुछ और ऐसी ही कमियों का जिक्र करेंगे। इस श्रृंखला के अगले लेख में हम कुछ ऐसे प्रचलित तरीकों पर ध्यान देंगे जिनके जरिए फंक्शनलिस्ट दृष्टिकोण को भारत तथा दुनिया के दूसरे भागों में लागू किया गया है और तत्पश्चात हम उनकी संभावित समस्याओं की तरफ भी ध्यान देंगे। इससे हमें शिक्षा के दूसरे संभावित समाजशास्त्रीय सिद्धांतों का महत्व समझने में मदद मिलेगी। ◆

लेखक परिचयः जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली से एमफिल एवं पीएचडी करने के बाद एकलव्य, हौशंगाबाद के साथ लगभग 3 वर्ष तक कार्य किया। इसके उपरान्त आईआईटी, कानपुर में समाजशास्त्र का अध्यापन किया। वर्तमान में अजीम प्रेमजी यूनीवर्सिटी, बैंगलोर में समाजशास्त्र के प्रोफेसर हैं।

संपर्कः amman.madan@apu.edu.in

भाषान्तर : योगेन्द्र दत्त

संदर्भ

Durkheim, E. (1956). Education and Sociology. Glencoe: The Free Press.

Durkheim, E. (1982). The rules of sociological method: And selected texts on sociology and its method. (S. Lukes, Ed.). London: Macmillan. (Original work published 1895)

Malinowski, B. (1961). The functional analysis of culture. In A scientific theory of culture and other essays (pp. 67-74). New York: Oxford University Press.

Merton, R. K. (1968). Manifest and latent functions: toward the codification of functional analysis in sociology. In Social theory and social structure (2nd ed., pp. 72-138). New York: Free Press.

Parsons, T. (1959). The School Class as a Social System: Some of its Functions in American Society. Harvard Educational Review, 29(4), 297-318.

Radcliffe-Brown, A. R. (1952). On the concept of function in social science. In Structure and function in primitive society: essays and addresses (pp. 178-187). Glencoe, Ill.: The Free Press. (Original work published 1935)

अतिरिक्त रीडिंग

Feinberg, W., & Soltis, J. S. (1998). School and society. New York and London: Teachers College Press, Columbia University. Chapter 2 "The functionalist perspective on schooling" and Chapter 3 "Functional theory, policy and problems". Parsons, T. (2010).

सामाजिक व्यवस्था के रूप में स्कूली शिक्षाः अमेरिकी समाज में इसके कुछ प्रकार्य, *शिक्षा विमर्श,* मार्च-जून, 2010 (पृ. 75-89)

ज्ञान और शिक्षा की राजनीति

यमुना सनी

एक बार फिर हमारी राष्ट्रीय शिक्षा नीति का दक्षिणपंथी राजनैतिक झुकाव हो जाने के परिणामस्वरूप यह जरूरी है कि मानव संसाधन विकास मंत्रालय द्वारा आज की शिक्षा के लिए प्राचीन ज्ञान का उपयोग करने पर जो जोर दिया जा रहा है उसके निहितार्थों की पड़ताल की जाए। यह लेख इस बात को रेखांकित करता है कि ज्ञान व्यक्तियों और समाजों की चेतना का स्वरूप तय करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। एक ओर जानकारियों को वैधता प्रदान करने के इसके कार्य का उपयोग यथास्थितिवादी राजनैतिक शक्तियों द्वारा किया जाता रहा है, वहीं दूसरी ओर, इसकी मुक्तिदायी संभावनाओं का उपयोग लोगों के राजनैतिक संघर्षों द्वारा किया जाता रहा है। आज की शिक्षा में ज्ञान की भूमिका की गहराई से पड़ताल करने की और उस पर बहस करने की जरूरत है, ताकि ऐसी व्यवस्था बनाई जा सके जिसमें वर्तमान में हाशिये पर रहने वाले सभी लोगों को शामिल किया जा सके।

सांप्रदायिक रंग में रंगी स्कूली पाठ्यपुस्तकें और पारंपरिक भारतीय शिक्षा का अतार्किक महिमामंडन, ये सन् 2000 में बनी स्कूली पाठ्यक्रम की राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (एनसीएफएसई)-1 की परेशान कर देने वाली विशेषताएं थीं। इन प्रवृत्तियों का विरोध किया गया, सरकार बदल जाने के साथ ही 2005 में इन प्रवृत्तियों को नियंत्रित कर दिया गया और राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (एनसीएफ) अस्तित्व में आई। एनसीएफ में बच्चों को केन्द्र में रखने और ''सीखने के बोझ'' को कम करने जैसे पहलुओं पर विशेष जोर दिया गया, जिन्हें एनसीएफएसई में भी शामिल किया गया था। इसके ''बच्चों द्वारा ज्ञान के निर्माण'' जैसे विशिष्ट विचारों का स्कूली पाठ्यपुस्तकों पर और देश के शिक्षाविदों के कथनों पर कुछ प्रभाव पड़ा है। पर यह ज्ञान को उसके दो पहलुओं में बांट देता है। एक है बच्चों द्वारा निर्मित ज्ञान और दूसरा पाठ्यचर्या के विषयों में निरूपित ज्ञान (सनी, 2010)। यह ऐसे बारीक भेद निर्मित करता है जो ऐतिहासिक रूप से विकसित हुई ज्ञान की बुनियादों को सिरे से खारिज कर देते हैं। सौभाग्य से, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद (एनसीईआरटी) और कुछ राज्यों की शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषदों (एससीईआरटी) के अंतर्गत 2005 के बाद लिखी गई कई पाठ्यपुस्तकें ज्ञान से जुड़े आलोचनात्मक नजरियों को व्यावहारिक ढंग से दर्शाने में सफल रही हैं और इस तरह उन्होंने इस सिद्धांत को एनसीएफ से आगे बढ़ाया। 2005 के इस दस्तावेज में या तो ज्ञान पर होने वाली राजनीति पर समग्र चर्चा करने से बचा गया है या फिर इसे नीतिगत रूप से महत्वपूर्ण नहीं माना गया। पर अब, मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने आज की शिक्षा के लिए प्राचीन भारतीय ग्रंथों से सामग्री इकट्ठा करने की तैयारी शुरू कर दी है। (डेक्कन क्रॉनिकल, 7 जून 2014)

इस लेख का उद्देश्य प्राचीन/पारंपरिक, आधुनिक/उत्तर-आधुनिक या पूर्व/पश्चिम का ध्रुवीकरण करना नहीं है। इस तरह के ध्रुवीकरणों से हमें अपनी आंतरिक सामाजिक गतिकी को आलोचनात्मक ढंग से समझने में

कोई मदद नहीं मिलती। हमें उस राजनीति के निहितार्थों की पड़ताल करने की जरूरत है जिसका एक पैर, भाषणों के रूप में भारतीय परंपराओं में जमा है और दूसरा पैर मजबूती से 21वीं सदी में उपलब्ध तकनीकी विकास के स्वरूपों पर जमा है, जो बहुत हद तक सोशल मीडिया पर निर्भर करता है। यहां, एक ओर, उपयोग की गई तकनीकों का, बगैर किसी आलोचना के, समकालिक होना जरूरी है, वहीं दूसरी ओर हमारे सामाजिक-राजनैतिक नजरियों को तय करने वाले ज्ञान का, बगैर किसी समीक्षा के, पारंपरिक होना जरूरी माना जाता है। इस देश में शिक्षा की प्रकृति के लिए दोहरी प्रवृत्तियों वाले इस गठजोड़ के गंभीर परिणाम हो सकते हैं। इस लेख में शिक्षा में निहित ज्ञान के विभिन्न आशयों की और हमारे देश में शिक्षा पर पड़ने वाले इसके प्रभावों की पड़ताल करने की कोशिश की गई है।

ज्ञानः सामाजिक रूप से दो भागों में बंटा हुआ

एक ब्राह्मण और नाविक की एक लोकप्रिय कहानी में, ब्राह्मण नाविक को लगातार यह जताता रहता है कि चूंकि उसे वेदों का ज्ञान नहीं है इसलिए उसका जीवन निरर्थक है। जब नाव बीच नदी में पहुंचती है तो नाविक ब्राह्मण से कहता है कि अगर अभी नाव डूबने लगे तो ब्राह्मण का जीवन कितना निरर्थक हो जाएगा क्योंकि ब्राह्मण तैरना नहीं ''जानता'' था और निश्चित ही डूब जाता। यह कहानी लोकप्रिय है क्योंकि यह दिखाती है कि किस प्रकार ब्राह्मणों में जीवन के कौशलों का अभाव होता है, और इस तरह ब्राह्मण में ज्ञान की इस कमी का मजाक उड़ाया गया है। समाज में ज्ञान जिस गहराई से दो भागों में बंटा होता है उसे भी यह कहानी प्रतिबिंबित करती है। किसे कौन सा ज्ञान होना चाहिए? यह श्रम के विभाजन, तथा ऊंची जातियों, वर्गों और पुरुषों के सत्ता और समृद्धि पर एकाधिकार द्वारा तय होता है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं है कि दो हिस्सों में ज्ञान के विभाजन को श्रमजीवी वर्गों, दलितों और महिलाओं के सामाजिक-राजनैतिक संघर्ष की जड़ के रूप में स्वीकार किया जाता है।

19वीं सदी के समाज सुधारक और सामाजिक कार्यकर्ता ज्योतिराव फुले माली जाति के थे, पर उन्होंने ''1848 में शूद्रातिशूद्र लड़कियों के लिए भारत का पहला स्कूल खोला था (देशपांडे 2002 : 03)''[2] उनके पिता को ऊंची जातियों के द्वारा इस बात का बदला लिए जाने का जायज डर सताने लगा। ज्योतिराव तथा सावित्रीबाई जिनसे ज्योतिराव ने 1840 में शादी की थी, दोनों उस स्कूल में पढ़ाते थे उनको पिता का घर छोड़ना पड़ा। इससे जुड़े वर्णन में आगे बताया गया है,

ज्योतिराव आसानी से हारने वालों में से नहीं थे। 1851 में, उन्होंने एक और स्कूल की स्थापना की जिसमें सभी जातियों की लड़कियां पढ़ सकती थीं। इसके बाद उन्होंने 1855 में कामगारों के लिए संध्याकालीन स्कूल खोला। इस समय तक ज्योतिराव की गतिविधियों को लेकर गुस्सा काफी बढ़ गया था। 1856 में तो उनके ऊपर जानलेवा हमला भी हुआ। (देशपांडे, 2002 : 03)

शिक्षा तक ''पहुंच'' का मुख्य संघर्ष उस जगह तक पहुंच बनाने का संघर्ष है जो सामाजिक और सांस्कृतिक रूप से बहुत से लोगों की पहुंच से बाहर के स्थानों के रूप में स्थापित है। जहां आधुनिक स्कूलों ने दलितों के लिए शिक्षा के स्थानों को खोल दिया है, वहीं जाति से जुड़े पारंपरिक बारीक भेदों ने उनके लिए उन स्थानों को बहुत हद तक सीमित भी कर दिया। इस स्थिति को बी. आर. अंबेडकर बड़े जीवंत रूप में सामने लाते हैं, जब वे नौ साल के बालक के रूप में हुए अपने अनुभवों का वर्णन करते हैं।

मैं जानता था कि मैं अछूत था, और यह भी जानता था कि अछूतों के साथ खास तरह का असम्मानजनक व भेदभावपूर्ण व्यवहार होता था। उदाहरण के लिए, स्कूल में मैं अपनी वरीयता के हिसाब से अपनी कक्षा के विद्यार्थियों के बीच नहीं बैठ सकता था, बल्कि मुझे अकेले एक कोने में बैठना पड़ता था। मुझे पता था कि कक्षा में मुझे एक अलग चटाई पर बैठना था, और स्कूल की सफाई करने के लिए नियुक्त सेवक मेरी चटाई को छूता तक नहीं था। मुझे अपनी चटाई रोज स्कूल छूटने पर घर ले जानी होती थी और अगले दिन फिर लानी होती थी। मुझे यह भी पता

था कि सवर्ण वर्गों के बच्चे प्यास लगने पर नल पर जाकर अपनी प्यास बुझा सकते थे। उन्हें केवल शिक्षक की अनुमति भर लेना पड़ती थी। लेकिन मेरी स्थिति अलग थी। मेरे मामले में शिक्षक की अनुमति पर्याप्त नहीं थी। (नल खोलने के लिए) स्कूल के चपरासी की उपस्थिति आवश्यक थी क्योंकि वह अकेला व्यक्ति था जिसका इस्तेमाल कक्षा शिक्षक इस उद्देश्य के लिए कर सकते थे। अगर चपरासी उपलब्ध न हो तो मुझे बिना पानी पिए ही काम चलाना पड़ता था (रविकुमार और आनंद 2007 : 11)

ऐसी प्रथाओं को, जो ''ज्ञान'' को अधिकांशतः ऊंची जाति के पुरुषों तक सीमित करती थीं, प्राचीन ग्रंथों का सहारा भी मिला हुआ था। इसलिए एक तरफ ज्योतिराव-सावित्रीबाई आधुनिक ज्ञान तक पहुंच बनाने के लिए तो संघर्षरत थे पर दूसरी तरफ उन्होंने 'मनुस्मृति' जैसे पारंपरिक ज्ञान को अस्वीकार कर दिया था, जो दलितों और महिलाओं के लिए मनुष्यों से कमतर जीवन की वकालत करता है। इसलिए यह संघर्ष एक ही साथ ज्ञान के लिए भी और ज्ञान के विरुद्ध भी था, जो न्यायपूर्ण समाज के निर्माण के संघर्ष में ज्ञान की समीक्षात्मक पड़ताल के महत्व को दर्शाता है।

यह दिलचस्प बात है कि जहां फुले और अंबेडकर जाति व्यवस्था को कमजोर करने के लिए आधुनिक ज्ञान तक पहुंच को जरूरी मानते थे वहीं मोहनदास गांधी ने इस सवाल को अलग ढंग से उठाया। उनके कार्य ''नीची'' जातियों के जीवन कौशलों को वैधता देने वाले थे ताकि उनका परंपरागत ठोस ज्ञान आधुनिक ज्ञान के साथ मिल जाए। ''निश्चित ही मैं यह मानता हूं कि हमारा अधिकांश समय रोटी कमाने की जद्दोजहद में चला जाता है इसलिए यह जरूरी है कि हमारे बच्चों को शैशवकाल से ही ऐसे श्रम की गरिमा समझाई जाए। हमारे बच्चों को ऐसी शिक्षा नहीं मिलनी चाहिए कि वे श्रम को घृणा की दृष्टि से देखें'' (कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मा गांधी, भाग 21, 1966 : 38)।

इस विचार में बड़ी गहरी राजनैतिक संभावनाएं हैं, जैसा कि कुमार कहते हैं (2005 : 180) क्योंकि इसके अनुसार स्कूली पाठ्यचर्या में ज्ञान के उस स्वरूप को शामिल करने से, जिस पर नीची जाति के समूहों का एकाधिकार था, पारंपरिक ज्ञान व्यवस्था से इसका सीधा टकराव होना निश्चित था। इसका राजनैतिक निहितार्थ यह था कि इसने अमूर्त विचार और ठोस परिश्रम के बीच सामाजिक रूप से निर्मित विभाजन को सुलझाने का प्रयास किया। सिद्धांतों और क्रियात्मक ज्ञान के बीच का यह ढांचागत अलगाव दुनिया को देखने के सामाजिक रूप से अलग नजरियों का निर्माण करता है और बुनियादी शिक्षा के माध्यम से गांधी का नजरिया इसी अलगाव को पाटने की कोशिश थी। पर उनकी कोशिशों का देश में कहीं भी कोई फल नहीं मिला। जाति और लिंग से जुड़े पूर्वाग्रहों की गहरी जड़ों के कारण, सामाजिक प्रतिष्ठा के संकेतार्थ स्पष्ट रूप से शारीरिक श्रम न करने के पक्ष में थे।

इटली में भी लगातार बढ़ते हुए खास तरह के व्यावसायिक स्कूलों में ग्राम्शी ने देखा कि विद्यार्थी के भविष्य के कार्य को परंपराओं के आधार पर पहले से तय कर दिया जाता था। वैकल्पिक समाधान के रूप में, ग्राम्शी ने सामान्य बुनियादी शिक्षा की वकालत की जो ''शारीरिक श्रम (तकनीकी, औद्योगिक) करने की क्षमता के विकास और बौद्धिक श्रम करने के लिए जरूरी क्षमताओं के विकास में संतुलन बना सकें (होल्गर और स्मिथ 2009 : 27)''। ग्राम्शी की सोच में निरंतर यह विचार देखा जा सकता है, जो पारंपरिक और सामाजिक रूप से ज्ञान को दो भागों में बांटने वाली प्रक्रियाओं के खिलाफ चेताता है।

ज्ञान : गतिशील प्रक्रिया

ज्ञान को एक स्थिर भंडारगृह की तरह नहीं माना जा सकता। पारंपरिक तथा आधुनिक ज्ञान के बीच एक अंतर्निहित संबंध होता है। परन्तु यह एक ऐसा रैखिक संबंध नहीं होता जो जानने के ''विशुद्ध'' जोश से संचालित होता हो, जिस तरह हम अकसर उसे देखते हैं। ज्ञान का निर्माण और समय के साथ उसमें होने वाले परिवर्तनों का स्वरूप सामाजिक ढांचो/प्रचलनों, उत्पादन की प्रणालियों की परस्पर साथ चलने वाली प्रक्रियाओं, और राज्य की भूमिका के द्वारा निर्धारित किया जाता है। और ये भी समीक्षाओं, विभिन्न दृष्टिकोणों तथा नए साक्ष्यों के द्वारा फिर से संशोधित होते रहते हैं। मनुस्मृति की फुले द्वारा की गई पड़ताल पारंपरिक ज्ञान की एक समीक्षा ही है।

जब ज्ञान को एक रुके हुए ऐसे संग्रह की तरह देखा जाता है जो समीक्षाओं और प्रश्नों से परे है, तब वह ऐसे रूढ़िवादी सिद्धांत बनकर रह जाता है जिनमें केवल यथास्थितिवादी राजनैतिक उद्देश्य ही निहित हो सकते हैं। आधुनिक शिक्षा भी अकसर सवाल उठाने की क्षमता निर्मित न करने की, और ज्ञान के सामाजिक-ऐतिहासिक संदर्भों की पड़ताल न करने की प्रवृत्ति का शिकार बन जाती है। उदाहरण के लिए, आधुनिक स्कूली शिक्षा एक वैज्ञानिक स्वभाव निर्मित कर पाने में सफल नहीं हो पाई है जो कि प्रारंभ से ही उसका लक्ष्य था। विज्ञान शिक्षाशास्त्री मैथ्यू (1995, 2000) ध्यान दिलाते हैं कि इस समस्या का समाधान विज्ञान की शिक्षा की विषयवस्तु में परिवर्तन करते हुए उसमें विज्ञान के दर्शन और इतिहास को समाहित करके किया जा सकता है। इसमें एक गतिशील प्रक्रिया की तरह ज्ञान की पड़ताल करने की जरूरत निहित है - ताकि यह देखा जा सके कि समझ स्थान और काल के साथ-साथ बदलती रहती है। इसका यह मतलब भी है कि ज्ञान की पड़ताल उसे केवल तकनीकी या उपकरणीय जानकारी की तरह न मानकर, उसे उस विशेष सामाजिक तथा ऐतिहासिक संदर्भ में देखते हुए करने की जरूरत होती है जो उसके स्वरूप को निर्धारित करता है।

शिक्षा अपने आप को उस राजनीति के चंगुल में फंसने से बचा सके जो सामाजिक वंचना की तरफ धकेलने की प्रक्रियाओं को मजबूत बनाती है, इसके लिए उसे ज्ञान की पुर्नव्याख्याओं के समृद्ध योगदानों का उपयोग करने की जरूरत है। सर्व समावेशी शिक्षा के लिए केवल अधोसंरचना की सुविधाओं की ही जरूरत नहीं है, बल्कि उसके लिए ज्ञान की जीवन्तता और गतिशीलता को सुगम बनाने की भी जरूरत है। मैं यहां इस बात को स्पष्ट करने के लिए कुछ उदाहरणों का उपयोग करूंगी।

भारतीय इतिहास लेखन तीखे विवादों और सामंजस्यों का साक्षी रहा है। भारत के बारे में यूरोपीय दृष्टिकोण मोटे तौर पर दो प्रकार का रहा है - एक वह जो पूर्वीय ज्ञान को एक रूमानी आभा प्रदान करता है, और दूसरा वह जो उसे यूरोपीय इतिहास की तुलना में तुच्छ मानता है। भारत में राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने रक्षात्मक रुख अपनाते हुए भारत के अतीत को गौरवान्वित किया। लेकिन इनमें से कोई भी प्रचलित दृष्टिकोण भारत के अतीत की, और उसमें उसके सामाजिक ढांचों के द्वारा निभाई गई भूमिका की समीक्षात्मक पड़ताल नहीं कर सका। इस गतिरोध को कई इतिहासकारों ने दूर किया। डी. डी. कोशाम्बी की कृतियों ने पुर्नव्याख्या के एक बड़े मार्ग को प्रशस्त किया, जो एक ऐसे जोश से भरपूर था जो कि न तो रूढ़िवादी था, और न ही तुच्छ मानकर उपेक्षा करने वाला, और न ही अतीत को महिमामंडित करने वाला, और जो ''एक स्वतंत्र मत निर्मित करता था और जो इतिहास कथा को उन लोगों की दृष्टि से बयान करता था जो श्रम करते थे परन्तु जिनका उपलब्धियों के विस्तृत विवरणों वाले इतिहास में कोई महत्व नहीं था'' (चक्रवर्ती 2006 : xix)। उसके बाद, आर. एस. शर्मा, डी. आर. चानना, रोमिलाथापर, वी. वी. झा, उमा चक्रवर्ती तथा अन्य लोगों ने पुनर्व्याख्या के इस चश्मे को आकार देने में अपने योगदान दिए।

उन्होंने भारतीय समाज को समीक्षात्मक दृष्टि से देखा और आम लोगों के जीवन के बारे में जानने के लिए, संस्कृत के स्रोतों पर निर्भरता की परंपरा को भंग करते हुए, प्राकृत और पाली के स्रोतों में निहित जानकारी का उपयोग किया। कई इतिहासकारों ने उत्पादन के तरीकों के माध्यम से सामाजिक परिवर्तनों का विश्लेषण किया। स्त्रियों और सेवकों के बारे में किए गए इतिहास लेखन ने पुर्नव्याख्या करने के दृष्टिकोणों को और भी तीखी धार प्रदान की। ''इतिहास लेखन में हुए परिवर्तन में नए साक्ष्यों का, और पुराने साक्ष्यों को देखने के नए दृष्टिकोणों का समावेश किया गया है'' (थापर 2002 : xix) इतिहास लिखने की इन धाराओं ने हमारे अतीत के बारे में एक आत्म-परीक्षण की दृष्टि विकसित करने में मदद की। गैर-प्रभुत्ववादी स्रोतों और दृष्टिकोणों का उपयोग करने पर, भारत का अतीत ऐसे स्वरों में बोलता है जिन्हें पहले कभी नहीं सुना गया था। अतीत अपने समय में कैद होकर एक निर्धारित स्वरूप में नहीं बना रहता, बल्कि वह बदलता है और अक्सर हमारे वर्तमान और भविष्य में भी जारी रहता है। उसकी पुर्नव्याख्याएं, शायद, हमारे अतीत की तुलना में हमारे भविष्य को अधिक लोकतांत्रिक बनाने में सहायक होती हैं।

उन्नीसवीं सदी में उल्लेखनीय रूप से विकसित हुई, पश्चिमी युरोपीय पूंजीवादी व्यवस्था को उत्पादन के लिए संसाधनों और तैयार माल को बेचने के लिए बाजारों की जरूरत थी। यूरोपीय उपनिवेशों का निर्माण इन्हीं मांगों को पूरा करने के लिए किया गया। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के स्वरूप को भी बहुत हद तक इन्हीं संदर्भों ने निर्धारित किया और सामाजिक विज्ञान जैसी ज्ञान की धाराओं ने अकसर इन घटनाओं को संसार में वैधता प्रदान की। अभी भी प्रबल रूप से ज्ञान को आजकल के पूंजीवादी वैश्वीकरण के अनुरूप ढाला जा रहा है। इस सबके बावजूद, ज्ञान का अस्तित्व कभी भी एकरूपी चट्टान जैसा नहीं रहा है - उसमें साथ ही साथ विरोधी स्वर, असहमतियां और सामंजस्य के समझौते भी शामिल रहे हैं। परन्तु, जो ज्ञान आधुनिक शिक्षा व्यवस्था में प्रवेश करता है, उसकी प्रकृति आधुनिक राज्य की आवश्यकताओं और उत्पादन की पूंजीवादी पद्धति के द्वारा निर्धारित की गई होती है। इनकी रचना नागरिकों तथा कामगारों की प्रकृति को निर्मित करने के लिए की जाती है। दूसरी ओर, जनवादी दृष्टिकोण अपनी सामाजिक-राजनैतिक वैधता को स्थापित करने और मेहनतकश आम जनता को बेहतर जीवन प्रदान करने के लिए संघर्ष करते हैं। ये परस्पर विरोधी हित ही शिक्षा की उस राजनीति को प्रदर्शित करते हैं जिसमें ज्ञान एक केन्द्रीय भूमिका निभाता है।

पारंपरिक और आधुनिक

आधुनिक ज्ञान की सामाजिक पृष्ठभूमि पूंजीवाद के आविर्भाव की थी जिसने आधुनिक राज्य और विज्ञान के साथ एक खास तरह का संबंध विकसित कर लिया। इसी प्रकार, पारंपरिक ज्ञान की पृष्ठभूमि सामन्ती और उत्पादन की एशियाई पद्धतियों की थी। इन उत्पादन पद्धतियों में श्रमिक लोगों ने अपनी बुनियादी जरूरतों की पूर्ति करने के लिए विभिन्न कौशल विकसित किए, जिनमें खेती करने, खाना पकाने, पशुपालन, मिट्टी के बर्तन बनाने, बढ़ईगिरी, जूते-बनाने और कपड़ा बनाने के कौशल शामिल थे। पारंपरिक ज्ञान में चिकित्सा, ज्योतिष, वास्तुकला, शस्त्रों के उपयोग तथा आत्मरक्षा की कलाएं, युद्ध कौशल और खगोल विद्या भी निहित होते थे। शास्त्रीय कला शैलियों की अपनी विशेष उच्च वर्गीय हैसियत थी, उनका स्थान लोकप्रिय कला रूपों से बिलकुल अलग था। सबसे बड़ी बात यह थी कि ज्ञान के इन स्वरूपों का आधार धार्मिक ग्रंथों द्वारा प्रदान किए जाने वाले ज्ञान के वे स्रोत थे जिनकी व्याख्या (भारत में ब्राह्मणों के द्वारा)सामाजिक व्यवस्थाओं के ऊंच-नीच वाले पादानुक्रम को बनाए रखने के लिए की जाती थी। भारत में जाति तथा लिंग के आधार पर पहले से ही यह तय कर दिया गया था कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में क्या करेगा - अर्थात, ज्ञान की प्रकृति और उसे किस प्रकार प्राप्त किया जाना था, ये पहले से ही तय रहते थे। इसलिए पारंपरिक समाज में ज्ञान तक ''पहुंच'' के कोई राजनैतिक निहितार्थ नहीं थे। चाहे पुरुष हो या स्त्री, हर व्यक्ति उस ज्ञान को हासिल करता था जो उसकी जाति और लिंग के लिए उपयुक्त होता था।

यूरोपीय पूंजीवाद के माध्यम से ज्ञान के पारंपरिक सामाजिक संबंधों में बड़ा परिवर्तन आया। खेती को छोड़कर, उत्पादन की अधिकांश अन्य प्रक्रियाएं उन कारखानों को हस्तांतरित हो गईं जिन पर पूंजीपतियों का स्वामित्व था और जिन्हें नई मशीनों को चलाने के लिए मजदूरों की आवश्यकता थी। ये मजदूर सामंती और ग्रामीण परिवेशों से पूंजीवादी और नगरीय परिवेशों में लाए गए, और उनके कौशलों को नई व्यवस्था को चलाने के लिए आवश्यक कौशलों के अनुरूप बनाया जाना जरूरी हो गया। इसी जरूरत की पूर्ति के लिए आधुनिक स्कूल के आविर्भाव ने बड़े पैमाने पर ''सार्वजनिक'' शिक्षा को बढ़ावा देकर एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

भारतीय समाज के हाशिए पर रह रहे तबकों के लिए, आधुनिक स्कूली शिक्षा ने ऐसी क्रांतिकारी संभावनाओं के द्वार खोल दिए जो उन्हें नई नौकरियां हासिल करने में, और शिक्षा की पहले से निर्धारित जाति और लिंग की प्रकृति से अलग हटने में मदद कर सकती थीं। कारखाना अपने आप में जाति से संचालित नहीं होता था, और उसमें पुरुषों तथा स्त्रियों, दोनों को काम पर रखा जा सकता था। परन्तु, विडंबना यह है कि आधुनिक रोजगार का भारतीय अनुभव यह दर्शाता है कि जाति-लिंग का कारक उस सोच को निर्देशित करता रहा जो खेतिहर गांवों से शहरों के कारखानों में भी पहुंच गई।

इस तरह, एक आधुनिक समाज में परिवर्तित होने का प्रयास आंशिक और टुकड़ों में बंटा हुआ था। स्त्रियों की शिक्षा के मामले में, आधुनिक स्कूलों ने शुरुआत में उनकी पारंपरिक लिंगाधारित भूमिका को ही मजबूत बनाने का प्रयास किया। 19 वीं सदी के उत्तरार्ध में, जो आर्य समाज, स्त्रियों की शिक्षा के सक्रिय समर्थक के रूप में आगे आया, उनकी उच्च शिक्षा के मद्दे पर उसी में हिचकिचाहट भी थी। "हिन्दू लड़के की अपेक्षा हिन्दू लड़की को बहुत भिन्न प्रकृति वाले कार्य करना पड़ते हैं।... (हम) किसी भी ऐसी व्यवस्था को प्रोत्साहित नहीं करते जो उसे उसके चरित्र की राष्ट्रीय विशेषताओं से वंचित कर सकती हो। अपनी लड़कियों को हम जो शिक्षा देते हैं वह उनकी लिंगाधारित विशेषताओं को नष्ट करने वाली नहीं होनी चाहिए" (कुमार 1993 : 29) (जोर अतिरिक्त दिया गया)। 20वीं सदी के प्रारंभिक दौर में, समाज सुधारक, परोपकारी दानदाता, और सरकार, तीनों ही बच्चों के स्वस्थ विकास में और इसलिए स्वस्थ नस्ल के विकास में, स्त्रियों की महत्वपूर्ण भूमिका को स्वीकारने में एकमत हो गए।

लेकिन, बाद की 20वीं सदी में जब स्त्रियां देश भर में चल रहे विभिन्न सामाजिक-राजनैतिक आंदोलनों में अधिकाधिक रूप से सक्रिय हो गईं, तब पारंपरिक दृष्टिकोणों का प्रतिरोध होने लगा और स्त्रियों की समस्याओं को बहुत भिन्न रूप में व्यक्त किया जाने लगा। राधा कुमार ने 1990 में लिखते हुए (196) ध्यान दिलाया कि भारतीय नारीवादी आंदोलन को उन कई समस्याओं का लंबा अनुभव है जिनका सामना संसार के अलग-अलग भागों में स्त्रियों को करना पड़ रहा है - विशेष रूप से परंपरा और आधुनिकता की समस्याओं, और उनमें नस्लीय, धार्मिक और सामुदायिक पहचानों और राष्ट्रवाद से जुड़ी समस्याएं।

आधुनिक स्कूलों में लोगों की शिक्षा के सामने मौजूद परंपरा और आधुनिकता, दोनों की चुनौतियों के बावजूद, स्कूली शिक्षा ने सामाजिक और राजनैतिक संघर्षों के लिए दृष्टिकोणों को निर्मित करने में अप्रत्यक्ष रूप से मदद की। फुले पर थॉमस पेन की किताब राइट्स ऑफ मैन (मनुष्य के अधिकार), जो उन्होंने 1847 में पढ़ी[3], का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। इसी प्रकार, मार्क्स की कृतियों और उनके विचारों के क्रियान्वयन के प्रयासों ने भारत में ग्रामीण क्षेत्र के किसान आंदोलनों और शहरी क्षेत्र के मजदूर संघों को प्रभावित किया। इस प्रकार, जहां एक ओर आधुनिक शिक्षा के लिए रची गई किताबों ने नागरिकों और कामगारों को खास तरह से ढालने की कोशिश करते हुए ज्ञान की राजनीति में अपनी भूमिका निभाई, वहीं उन्होंने पढ़ने के दायरे को बढ़ाया। यह प्रवृत्ति पाठकों को विविध प्रकार के परिवेशों और कालों में, और संसार के अन्य भागों में हो रहे संघर्षों में ले गई, और उसने फिर यहां के कामकाजी वर्ग, दलितों और स्त्रियों के संघर्षों में प्रमुख भूमिका निभाई। ज्ञान में निहित मुक्तिदायक शक्ति को बढ़ाने के लिए हमारा संघर्ष करते रहना जरूरी है, ताकि शिक्षा को सामाजिक वंचितीकरण को मजबूत करने से, और मशीनी कामगारों तथा निष्क्रिय नागरिकों को निर्मित करने की प्रवृत्ति से बचाया जा सके।

धर्म के सभी ओर व्याप्त उस प्रभाव, जिसने पूर्वआधुनिक राज्यों में वैधता प्रदान करने की भूमिका निभाई थी, की जगह आधुनिक राज्य में विज्ञान जैसे वैधता के नए स्रोतों तथा न्याय और समानता जैसे मुक्तिदायी विचारों ने ले ली। पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली वैज्ञानिक ज्ञान तथा निर्माण, परिवहन और संचार के क्षेत्रों में होने वाले अभिनव प्रौद्योगिक परिवर्तनों पर निर्भर करती है। इन्होंने बड़े पैमाने पर किए जाने वाले उत्पादन के विशिष्ट चिह्नों को निर्मित किया और बाजारों को जोड़ने वाली कड़ियों को बढ़ाया, जहां लाभ के लिए किए जाने वाले उत्पादन में तेज गति एक महत्वपूर्ण कारक बन गई। कामगार वर्ग के लिए यांत्रिक श्रम के नए स्वरूप निर्मित करने के साथ ही इसने दूसरी ओर, धार्मिक स्वीकृतियों से मजबूत बने, और सामान्यतया अटूट प्रतीत होने वाले जाति-लिंग के बंधनों से आजाद होने की एक संभावना का द्वार भी खोला। हमारे सभी सामाजिक सुधार आंदोलन पूंजीवाद या आधुनिकता के इसी संधिस्थल से विकसित हुए।

शिक्षा की राजनीति और उत्पादन की प्रक्रिया तथा सामाजिक ढांचे से उसके संबंध की पड़ताल करने में, हमें आज की शिक्षा के लिए प्राचीन भारतीय ग्रन्थों का उपयोग किए जाने के प्रस्ताव की बुद्धिमत्ता पर सवाल उठाने की जरूरत

है। एक समाचार के अनुसार, ''वेदों, उपनिषदों तथा अन्य महाकाव्यों का अध्ययन करने के लिए, मंत्रालय एक समिति गठित करने की योजना बना रहा है, ताकि उनमें से शिक्षण के लिए प्रासंगिक सामग्री का चयन किया जा सके'' (डेकन क्रानिकल, 7 जून 2014)। जैसे कि पहले चर्चा की गई, प्राचीन और पारंपरिक के अनेक निहितार्थ होते हैं। उनमें से किनका उपयोग किया जाएगा और आज की शिक्षा के लिए किनको उपयोगी माना जाएगा? यह देखते हुए कि यहां उन प्राचीन ग्रन्थों पर जोर दिया गया है जो पारंपरिक भारतीय समाज के ढांचों को विचारधारात्मक और वैधता प्रदान करने की सेवाएं प्रदान करते थे, इसका आशय विचारधारा के दमनात्मक पहलुओं को बढ़ावा देना हुआ। हेनरीलेफेब्रे के विचारों से प्रभावित होकर, विचारधाराओं पर लिखते हुए सरूप (1978 : 63) ध्यान दिलाते हैं कि ''बिना बल प्रयोग के व्यवस्था को बनाए रखने में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है, जिसे वे दमित और शोषित लोगों की उनकी स्थिति को स्वीकारने की सहमति हासिल करने के द्वारा निभाती हैं। वे ऐसा प्रभुता प्राप्त वर्ग या समूह की छवियां गढ़ने के द्वारा करती हैं।'' वर्तमान शिक्षा में बिना समीक्षा के पारंपरिक ज्ञान का प्रवेश करवाया जाना भारतीय समाज के लिए नई चुनौतियां खड़ी करेगा, जबकि वैसे ही यह समाज मानवीय ढंग से रहने के लिए संघर्ष कर रहा है, और इसमें जाति, वर्ग और लिंग के ढांचे, तथा साथ ही धार्मिक आधार पर वंचितीकरण के प्रयास आम लोगों के रोजमर्रा के जीवन को बहुत सुखद नहीं रहने देते।

निष्कर्ष

राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और उससे संबद्ध संगठन निश्चित रूप से यह मानते हैं कि अंग्रेज उपनिवेश निर्माताओं के द्वारा भारतीयों का अंग्रेजीकरण करके उनके प्रशासन को चलाने वाले क्लर्क बनाने - न कि उनका ज्ञानवर्धन करके उन्हें प्रगति के वाहक बनाने - के उद्देश्य से भारतीय शिक्षा व्यवस्था को देश पर लादा गया (कुरुवाचिरा 2008 : 130-31)। यह बात एनसीएफएसई 2000 के दस्तावेज में प्रमुखता से प्रतिबिंबित होती है जो, निरंतरता और परिवर्तन की प्रक्रिया की बारीकियों की परवाह किए बगैर ही, पारंपरिक और आधुनिक को एक दूसरे के विरोधी के रूप में प्रस्तुत करता है। उपनिवेशवाद की आलोचना करने से पारंपरिक भारतीय समाज के द्वारा वैध ठहराई गई उन धारणाओं को फिर से अपनाने का औचित्य सिद्ध नहीं हो जाता जो कि जाति और लिंग के आधार पर निर्मित की गई थीं। इसके अलावा, भारत में दक्षिणपंथी व्याख्याएं उनके द्वारा किए गए चयन के कारण भी हानिकारक होती हैं क्योंकि वे इस उपमहाद्वीप में विभिन्न धार्मिक समुदायों के सहअस्तित्व और अनेकता की परंपराओं की कोई चर्चा नहीं करतीं।

भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व वाले राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन की सरकार ने 2000 के बाद के शुरुआती वर्षों में एनसीईआरटी के माध्यम से ऐसी पाठ्यपुस्तकें निकालीं जिन्होंने हिटलर को तो एक राष्ट्रवादी व्यक्ति की तरह गौरवान्वित किया, पर जो उसके शासन में हुए यहूदियों तथा अन्य लोगों के नृशंष जनसंहार के बारे में मौन थीं। और ये पाठ्यपुस्तकें प्रारंभ में इस बात का उल्लेख करना सुविधापूर्वक भूल गईं कि गांधी की नाथूराम गोडसे के द्वारा हत्या की गई थी (कुरुवाचिरा 2008 : 147)। यही वह समय भी था, जब मानव संसाधन विकास मंत्री ने स्त्रियों के अध्ययन विषय को परिवारों के अध्ययन में मिला दिया, जो 19वीं सदी की इस धारणा को प्रतिबिंबित करता था कि स्वस्थ बच्चों (लड़कों) के पालन के लिए स्त्रियों की शिक्षा बहुत जरूरी थी। इसमें मनुस्मृति की अनुगूंज सुनाई देने के साथ ही यह हिटलर की ''शुद्ध'' नस्ल का पालन करने के लिए मातृत्व की दक्षिण पंथी धारणाओं से भी खासा मेल खाता है।

गाताडे ने 2009 में ''आश्रम स्कूलों में जातीय भेदभाव की भयावह स्थितियों'' के बारे में लिखते हुए कहा कि ''स्वाधीनता के 60 से - अधिक वर्षों के बाद, और सकारात्मक कार्यवाही के कार्यक्रमों की तमाम बातों के बाद भी, एससी-एसटी (अनुसूचित जातियों - अनुसूचित जनजातियों) के अधिकांश लड़के और लड़कियों के लिए शिक्षा प्राप्त करना अभी भी बाधा दौड़ के खेल जैसा हे'' (2011 : 302), और यह भी कि ''हम अभी भी भारतीय संविधान के दायित्वों को पूरा करने से बहुत दूर हैं'' (2011 : 303)। ऐसी सर्व समावेशी शिक्षा के लक्ष्य तक पहुंचने के लिए अभी

हमें लंबा सफर तय करना है जो अपनी भूमिका को वंचितीकरण के पारंपरिक और आधुनिक प्रचलनों से मुक्ति के रूप में देखती हो। शिक्षा पर दक्षिणपंथी राजनीति के द्वारा निभाई जा रही भूमिका, श्रमिक लोगों के संघर्षों में ज्ञान के द्वारा निभाई जाने वाली भूमिका के विरुद्ध है। ◆

भाषांतर : भरत त्रिपाठी

(यह लेख 27 दिसंबर 2014 के ईपीडब्ल्यू के अंक से साभार)

लेखिका परिचयः एकलव्य के साथ काम करती हैं जो शिक्षा के क्षेत्र में काम करने वाला एक गैर-सरकारी संगठन है। राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद द्वारा बनाई गई राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (2005) के लिए सामाजिक विज्ञान पर बने फोकस ग्रुप की सदस्य भी थीं।

संपर्कः yemunas@gmail.com

टिप्पणियां

1. उत्तर प्रदेश की बुनियादी शिक्षा तथा माध्यमिक स्कूली शिक्षा की, तथा सरस्वती शिशु मंदिर की पाठ्यपुस्तकों की एक समीक्षा में इसकी विस्तृत पड़ताल की गई है (उद्भावना, मार्च 2001, दिल्ली)। भारतीय पारंपरिक शिक्षा के अतार्किक महिमामंडन के बारे में सन्नी (2010) कहती हैं कि ''यह दस्तावेज आत्म-आलोचना की बात को हल्के ढंग से दरकिनार कर देता है और अकसर झूठे दावों का उपयोग करता है, उदाहरण के लिए, ब्रिटिश दस्तावेजों के अनुसार, शुरुआती 19वीं सदी के भारत में एक व्यापक शिक्षा व्यवस्था थी, जो जातीय और धार्मिक भेदभाव से मुक्त थी और लगभग सभी गांवों में स्कूल थे''।

2. अतिशूद्र आज की भाषा में ''दलित'' कहे जाएंगे (देशपांडे 2002 : 3)।

3. पेन (1737-1809) एक सक्रिय क्रांतिकारी और विचारक था जिसने अमेरिकन क्रांति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। उसने क्रांति की वकालत करने वाले परचों की एक शृंखला निकाली थी, जिसका नाम 'कॉमनसेंस' था और जो बहुत प्रभावशाली सिद्ध हुई - इतनी कि यह कहा जाता था कि कॉमनसेंस के लेखक की लेखनी के बिना वाशिंगटन का तलवार उठाना व्यर्थ होता।

अध्यापक शिक्षक की डायरी-III

कविता को आगे बढ़ाना

रविकांत

बच्चों के साथ मिलकर किसी कविता को आगे बढ़ाने का काम रोचक भी हो सकता है और कल्पनाओं के अनंत आकाश में ऊंची उड़ान भरने का एक मौका भी। यही सोचकर कुछ अध्यापिकाओं के साथ बच्चों की कुछ ऐसी कविताओं को चुनकर काम किया गया, जिन्हें आगे बढ़ाना काफी आसान था। इस काम के लिए खास तौर पर 'तीन मेंढ़क' तथा 'रामनारायण बाजा बजाता' नामक कविताओं को चुना गया। अध्यापिकाओं के साथ काम करते वक्त इन्हें आगे बढ़ाने का काम किया गया। बड़ी आसानी से कई अध्यापिकाओं ने इन कविताओं के एक या दो अंतरे गढ़ लिए। इन अंतरों को मूल गीत/कविता की धुन में गाकर भी देखा गया व उसका आनंद सभी ने उठाया। इस अनुभव से उत्साहित होकर उनमें से कुछ अध्यापिकाओं ने इस काम को बच्चों के साथ करने की ठानी।

जब उन्होंने इस काम को सरकारी विद्यालयों की कक्षा एक से तीन के साथ किया तो पाया कि दो-तीन बच्चों को छोड़कर बाकी बची पूरी कक्षा इन कविताओं को आगे बढ़ाने में कामयाब नहीं हो पाई। या तो बच्चे कविताओं में आई चीजों के ही नाम दोहरा दे रहे थे या कोई जवाब नहीं देकर अध्यापिका की तरफ ताक रहे थे। अंत में थक-हार कर अध्यापिकाओं ने खुद ही कुछ चीजों के नाम बताए और उनकी आवाज बताकर उसे गाकर सुना दिया। इससे उनका काम तो पूरा हो गया लेकिन मन में इस बात का असंतोष बचा रह गया कि बच्चे इन कविताओं को आगे नहीं बढ़ा पाए।

इस अनुभव को उन्होंने अपने सहकर्मियों की बैठक में सांझा किया और सभी के सामने उपरोक्त सवाल रखा और यह भी पूछा कि बच्चों के साथ ऐसा क्या काम किया जाए कि बच्चे इन कविताओं को आगे बढ़ाने में कामयाब हो पाएं?

पहले तो इस सवाल को समझा गया कि इन कविताओं को आगे न बढ़ा पाने की क्या वजह रही होगी? क्योंकि उसी की बुनियाद पर कविताओं को आगे बढ़ाने के लिए उपयुक्त तरीका गढ़ा जा सकता था। इसे समझने के लिए सबसे पहले यह देखा गया कि इन कविताओं को आगे बढ़ाने के लिए बच्चे को क्या-क्या समझना चाहिए।

रामनारायण वाली कविता में बच्चों को यह समझना जरूरी था कि रामनारायण हर बार बाजा बजाता है और हर बार बाजे के साथ किसी चीज को बजाता है तथा उस चीज की आवाज कैसे निकलती है यह भी बताता है। यानी बच्चे को हर बार कोई बजने वाली चीज व उसकी आवाज चुननी थी और उसे कविता की लड़ी में पिरोना था। इसी तरह 'तीन मेंढ़क' वाली कविता में उसे यह समझना था कि हर बार किसी नए जानवर

का चयन किया जाना है और उस जानवर की आवाज भी निकालनी है और इन दोनों बातों को कविता में पिरोना है।

रामनारायण का बाजा

रामनारायण बाजा बजाता
सिरी री री री..... सीटी बजाता-2
रामनारायण बाजा बजाता

ढम ढम ढम ढम ढोलक बजाता
रामनारायण बाजा बजाता

टन टन टन टन घंटी बजाता
रामनारायण बाजा बजाता

इस बात के साफ होते ही यह स्पष्ट हो गया कि बच्चों को यह कहने से तो बात समझ में नहीं आ रही है कि इन कविताओं को आगे बढ़ाओ, तो क्या किया जाए। एक अध्यापिका ने सुझाया कि उनके साथ बातचीत की जाए। तो सवाल यह उठा कि उनके साथ बातचीत किस तरह से की जाए कि उस बातचीत के बाद वे इन कविताओं को आसानी से आगे बढ़ा सकें। इस सवाल पर समूह में चुप्पी छा गई। क्योंकि बड़ों के समूह में तो ज्यादातर ने बिना किसी बातचीत के सिर्फ कविता को आगे बढ़ाने की कहने पर उन्हें आगे बढ़ाकर सुना दिया था। यानी कविता को आगे बढ़ाने पर की जाने वाली बातचीत पर तो बड़ों के समूह में काम किया ही नहीं गया था। यह भी साफ हुआ कि अध्यापिकाओं के लिए इस तरह के सवालों की लड़ी पिरोना मुश्किल काम है जिनकी मदद से बच्चे कविता को बुन लें। अतः सभी के साथ इस पर बातचीत की गई कि हम बच्चों से क्या-क्या सवाल पूछ सकते हैं।

सभी के साथ की गई चर्चा से बच्चों के साथ की जाने वाली बातचीत में सवालों की लड़ी कुछ इस तरह से उभर कर सामने आई।

- पहली बार रामनारायण ने बाजे के साथ क्या चीज बजाई? उस चीज से किस तरह की आवाज निकली?
- दूसरी बार रामनारायण ने बाजे के साथ क्या चीज बजाई? उस चीज से किस तरह की आवाज निकली?
- तुम बाजे के साथ किस चीज को बजाना चाहते हो? उससे किस तरह की आवाज आएगी? (जरूरत पड़ने पर बच्चों को एक-दो चीजें व उनसे निकलने वाली आवाजें भी सुझाना ताकि बच्चे उन उदाहरणों की मदद से सोच सकें। कोशिश करना कि वह कोई वाद्य यंत्र न होकर कोई आम-सी चीज हो, जैसे थाली, डिब्बा, आदि)
- अब इस कविता को आगे बढ़ाओ। या अब इसे कविता में गा कर बताओ।

तीन मेंढक

मेंढक तीन घूमने चले
दिन भर गाना बजाना किया

ऐ.... ओ.... चुप ना रहे
रुपया किराया कुछ ना दिया

मेंढक तीन घूमने चले
बकरियां तीन घूमने चलीं
दिन भर गाना बजाना किया

में... में... चुप ना रहीं
रुपया किराया कुछ ना दिया
मेंढक तीन घूमने चले

इन सवालों को बनाते ही यह बात साफ हो गई कि सिर्फ कविता को गाकर/सुनाकर आगे बढ़ाने के लिए कहने पर इन सवालों को उठाने व इनका जवाब खोजने का पूरा दारोमदार बच्चों के कंधों पर रहता है। बड़े व्यक्ति या बड़े बच्चे तो इसे कर लेते हैं लेकिन कक्षा 1 से 3 के कई बच्चों के लिए इसे करना थोड़ा मुश्किल होता है नतीजन कुछ बच्चे इसे करने में कामयाब हो जाते हैं और कई इसे ठीक से नहीं कर पाते। जबकि इन कविताओं पर की गई बातचीत से उन्हें पलट कर कविता को देखने समझने व उसके अंतरों की बुनावट पर सोचने का मौका मिलता है। इन सवालों के जरिए वे कविता के हर अंतरे की दूसरी पंक्ति को बनाने का तर्क समझ सकते हैं। उसके लिए उपयुक्त चीज और उससे निकलने वाली आवाज को सुन सकते हैं और उसे वाक्य में पिरोकर गीत/कविता के मुखड़े के साथ गा भी सकते हैं और इस बात का थोड़ा-सा सुख पा सकते हैं कि उन्होंने भी किसी कविता के किसी अंतरे को रचा। भले ही वह रचना एक ढांचे के तहत की गई हो, रचने के सुख को महसूस कर पाना कोई छोटी बात नहीं होती। लिखते वक्त तो 'रटने' को 'रचने' में बदलने के लिए सिर्फ वर्णमाला के ट वर्ग के प्रथमाक्षर को हटाकर च वर्ग का प्रथमाक्षर लगाना होता है। लेकिन सीखने के मामले में यह एक ऊबाऊ काम को रचनात्मक व रोमांचक काम में बदल देता है।

इस पूरे काम से यह भी हमारे सामने साफ हुआ कि बड़े जिस काम को मजे-मजे में पूरा कर लें, जरूरी नहीं कि उसी काम को वे बच्चों के साथ भी उतनी ही कुशलता से कर पाएं। यानी किसी काम में खुद आनंद उठाना व उसे पूरा कर लेना एक बात है और उसी काम में दूसरों को आनंद महसूस करवाना व उसे दूसरों से करवा लेना दूसरी बात है। यह अपने आप नहीं आ जाता बल्कि इसे सीखना पड़ता है। इसके लिए या तो हमें लगातार खुद के कामों के बारे में पलटकर व थोड़ा ठहर कर आलोचनात्मक व सृजनात्मक ढंग से सोचना पड़ता है या इस काम को अपने साथियों के साथ मिलकर करना पड़ता है। वैसे भी अगर हमारा मकसद कुछ बच्चों को नहीं बल्कि सभी बच्चों को सिखाना है तो हम किसी काम को बच्चों द्वारा खुद-ब-खुद समझ लेने के भरोसे नहीं छोड़ सकते।

ना बोलने वाली लड़की

कक्षा 9 के बच्चों के साथ काम करने के बाद हम कक्षा अवलोकन करने वाली एक बुर्जुर्ग अध्यापिका के साथ मेरे कक्षा शिक्षण के अवलोकन पर बात करने के लिए बैठे। दो कालांशों में चले काम में से एक कालांश का उन्होंने अवलोकन किया था। वैसे उन्होंने कहा था कि मैं हर रोज उस कक्षा को कम से कम एक कालांश तो पढ़ाती ही हूं। यानी इसमें यह बात छुपी थी कि बाकी की अध्यापिकाएं तो यह भी नहीं करती और बाकी कालांशों में वह भी वही करती है जो विद्यालय की बाकी अध्यापिकाएं करती हैं।

खैर, उनसे पूछा गया कि आपने अवलोकन में क्या काबिले जिक्र बात देखी। उनकी पहली टिप्पणी थी कि मेरी कक्षा में पूरे साल कभी न बोलने वाली लड़की भी आपकी कक्षा में बोल रही थी। उन्होंने अपने अन्य अवलोकन भी बताए, जिसमें उन्होंने एक दो नहीं सभी बच्चों की भागीदारी, काम करने में उनके द्वारा दर्शाए गए उत्साह और किए गए कामों में से खुद को पसंद आए कामों का भी जिक्र किया, लेकिन पूरी बात में कम से कम तीन-चार बार इस बात को दोहराया कि हमारी कक्षा में साल भर चुप रहने वाली लड़की भी बोल रही थी। साफ था कि उन्हें इस बात की हैरानी थी जो छुपाए नहीं छुप रही थी कि हमारी कक्षा में ऐसा क्या हुआ कि एक चुप्पा लड़की भी बोलने लगी। जबकि हम तो उस दिन उस कक्षा के बच्चों से पहली बार ही मिले थे और उन्हें कक्षा में भी पहली बार ही पढ़ाया था। एक बार पहले उस कक्षा में हमने एक कालांश का अवलोकन जरूर किया था लेकिन तब बच्चों से कोई बातचीत व संवाद नहीं हो पाया था।

उस लड़की को हमारी कक्षा में बोलने की हिम्मत मिलने की क्या वजह रही होगी? इस बात को समझने के लिए पहले मैं उनकी कक्षा के अवलोकन के आधार पर उनके काम का तरीका रखूंगा और फिर उसी कक्षा में हमारे द्वारा किए गए काम की एक झलक पेश करूंगा ताकि आप अनुमान लगा पाएं कि क्यों एक अध्यापिका की कक्षा में जो लड़की साल भर नहीं बोलती वह किसी दूसरे अध्यापक की कक्षा में पहले ही दिन बोलने की हिम्मत जुटा पाती है।

वे अध्यापिका अपना वक्त खाली बचाने के लिए 40-40 बच्चों के दो भागों को एक साथ बिठाकर पढ़ाती हैं, यानी करीब 80 बच्चों को एक साथ पढ़ाती हैं। उनकी कक्षा में बैंचें रखने व बैंचों पर लड़कियों के ठुंस जाने के बाद हिलने डुलने की जगह भी नहीं बचती। जब अध्यापिका कक्षा में नहीं होतीं तब वहां बेतरह शोर होता है जिसे वे कक्षा में आने के बाद खुद चीखकर या अधिकारपूर्ण आवाज के इस्तेमाल से चुप करवाती हैं।

पढ़ाने का तरीका उनका बहुत ही सादा व बिना मेहनत वाला और काफी प्राचीन किस्म का है। वे अपनी मेज पर व बच्चे अपनी बैंच पर बैठे रहते हैं। वे बारी-बारी से ऐसी लड़कियों को खड़ा करके पाठ पढ़वाती हैं जो फर्राटे से उस पाठ को पढ़ लेती हैं। बच्चे उस पाठ को सुनकर क्या समझे, इसे जाने बिना वे उस पाठ पर सविस्तार प्रवचन दे देती हैं जिसकी शुरुआत तो पाठ से होती है लेकिन बाद में उसका पाठ से कोई ताल्लुक नहीं रहता। बाद में बताई उनकी राय में वे इसे पाठ को संदर्भ से जोड़ना कहती हैं। उन्होंने सवाल भी उन्हीं से पूछे जिन पर उन्हें यकीन था

कि वह लड़की पूछे गए सवाल का जवाब दे सकती है। बाकी सभी बच्चों की भागीदारी अध्यापिका द्वारा बोले गए वाक्यों के आखिर में खाली छोड़ी गई जगह को भरने के लिए ऊंची आवाज में व एक सुर में एक शब्द को बोलने की होती है। पाठ के आखिर में आए सभी सवालों को मौखिक हल करवाने के बाद वे उन्हीं सवालों को बच्चों को कापी में हल करने के लिए दे देती हैं। इसमें यह बात भी छुपी है कि उन्हें पक्का यकीन है कि उनकी छात्राएं खुद उन सवालों को पढ़कर अपने शब्दों में उनका जवाब लिखने के लिहाज से पूरी तरह नाकारा हैं। इसलिए उन सवालों के जवाब किसी एक-दो तेज-तर्रार बच्चों द्वारा सभी को बताए जाने जरूरी हैं। उनके पढ़ाने के तरीके में अकेले बोलने का मौका उन्हीं में से एक-आध को मिलता है जो उनके सवालों का उनका मनचाहा जवाब दे सकती हैं। पूरी कक्षा में ज्यादातर वक्त बाकी बच्चों का प्रमुख काम चुपचाप बैठकर सुनना होता है।

इस तरीके के बरक्स हमने उनकी कक्षा में क्या किया। हमने पहला काम कक्षा के दोनों भागों को अलग करने का किया। इसके बाद बच्चों के साथ मिलकर अतिरिक्त बेंचों को कक्षा के बाहर बरामदे में जमा दिया। पहली बार मेज को उठाते ही एक-दो लड़कियां लपक कर आईं और खुद मेज ले जाने के लिए जिद करने लगीं। उनका भाव यह था कि अध्यापक होने के नाते अपने शारीरिक श्रम के काम में अपने हाथ मैले करना हमारे पद की तौहीन थी। हमारे मना करने पर बहुत जल्द ही उन्होंने इस बात पर ध्यान देना छोड़ दिया कि उनके अध्यापक भी उनके साथ मेज उठा-उठाकर व उनके साथ मिलकर कक्षा के बाहर जमा रहे हैं। वे मजे से हमारे साथ मिलकर मेजों को कमरे से दरबदर करने लगीं। वैसे उनके लिए यह एक अजूबा ही था क्योंकि उन्होंने तो अपने विद्यालय में यही देखा था कि दो फुट दूर पड़ी कुर्सी को अपने पास लाने के लिए भी अध्यापिकाएं हांक लगाकर बीस फुट दूर खड़ी किसी बच्ची को बुलाती थीं ताकि वह कुर्सी जब उनके पैरों के करीब आ जाए तब वे उस पर बैठने का अहसान कर सकें। कक्षा में रखी मेजों को दीवार के सहारे इस तरह से लगाया गया कि वे 'यू' आकार में नजर आने लगें। उन पर बैठी लड़कियां आपस में सभी को देख सकती थीं व बात कर सकती थीं।

सबसे परिचय करने के बाद और अपना परिचय देने के बाद हमने सभी के साथ दो-तीन कविताएं की। सभी ने उन्हें बड़े उत्साह से किया। हाव-भाव भी अच्छे से किए और गाया/दोहराया भी सलीके के साथ। फिर हमने बच्चों को पंचतंत्र की एक सरल-सी कहानी सुनाई। सभी से कहा कि वे उस कहानी का नाम सुझाएं। बच्चों की तरफ से सात-आठ नाम आए। उन्हें बोर्ड पर लिखा।

फिर हमने बच्चों से बातचीत करते हुए उस कहानी के नक्शे पर काम शुरू किया। बच्चे नक्शे के मतलब को समझ पाएं इसके लिए पहले उनके साथ नक्शे पर थोड़ी बातचीत की। उन्हें कहा कि वे आज सवेरे से लेकर अब तक इस कक्षा में किए गए किसी काम से जोड़कर नक्शे पर कोई बात कहें। थोड़ा हिचकिचाने के बाद बच्चों ने कक्षा में मेजों को लेकर किए गए फेरबदल के संदर्भ में नक्शे पर दो तीन बातें कहीं। उनसे कहा गया कि वे अपनी बात एक-आध शब्द के बजाय पूरे-पूरे वाक्यों में बताएं। फिर नक्शे शब्द के अर्थ का मजा लेने के लिए हमने नक्शे के अलग अर्थ पर भी बात की जैसे, *'उसने कहा कि मैं तुम्हारे चेहरे का नक्शा बिगाड़ दूंगा'*, इस वाक्य में नक्शे का क्या मतलब है।

इसके बाद कहानी के नक्शे के हिस्सों के तौर पर कहानी के प्रमुख व गौण पात्र, जगह, समस्या, घटनाएं तथा समस्या के हल पर बातचीत की। बच्चों ने इन सभी के बारे में बताया। उन्हें बोर्ड पर लिखा। अगर बच्चे घटना की जगह कोई एक या एक साथ कई बातें कहते या किए गए काम बताते तो उन्हें सुझाते कि वे एक नहीं कई बातों या कामों के मिलने से बनने वाली घटना को पहचान कर बताएं। अध्यापिका ने काम यहीं तक देखा था। हमने इसके बाद बच्चों के उपसमूह बना कर उन्हें कहानियों की किताबें पढ़ने को दीं। बाद में हरेक उपसमूह ने अपने समूह में पढ़ी गई कहानी का नक्शा चार्ट पर बनाया।

इस पूरे काम में बच्चों के पास बड़े समूह में तथा उपसमूह में अपनी बात रखने व करने का पूरा मौका था। बड़े समूह में तब जब उनसे कहानी का नाम रखने के लिए कहा गया और हरेक के नाम को बोर्ड पर लिखा गया। उनमें से एक-दो नाम एकदम ही अनुपयुक्त थे लेकिन उन पर कोई टीका-टिप्पणी नहीं की गई क्योंकि बच्चे पहली बार किसी कहानी का नाम रख रहे थे। हो सकता है अगली बार हम उनके साथ किसी कहानी का नाम रखने के साथ-साथ उस नाम को रखने के कारणों पर भी बातचीत करें ताकि कारणों को सोचते वक्त बच्चे नाम की उपयुक्तता पर मिलकर विचार करें। इसके बाद लड़कियां कहानी पढ़ते वक्त भी, उसके बारे में आपस में बातचीत कर सकती थीं। उसके चित्रों पर बात कर सकती थीं। फिर कहानी का नक्शा बनाते वक्त तो उनके पास उस कहानी पर बात करने के ढेर सारे मौके थे ही।

अगर आपने दोनों तरीकों पर गौर किया हो तो आपको यह साफ हो गया होगा कि अध्यापिका के तरीके में बच्चों की बहुत ही सीमित व दिखावटी भागीदारी नजर आती है, जिसमें बच्चों को या तो सिर्फ एक शब्द की खाली जगह भरने या मौखिक तौर पर हल करवा दिए गए सवालों के जवाब लिखने के लायक माना जाता है। जबकि हमने शुरू से ही ऐसी विषयवस्तु को चुना जिसे सुनकर बच्चे समझ सकते थे। फिर अपनी बनी समझ की मदद से उन पर करवाए गए काम खुद कर सकते थे, जैसे कहानी का नाम रखना, मिलकर कहानी का नक्शा बनाना व कहानी पढ़कर अपने साथियों के साथ मिलकर कहानी का नक्शा बनाना। अगर आप बच्चों की समझ के स्तर के मुताबिक विषयवस्तु चुनें और अपने कामों को उनके आधार पर बुनें तो क्यों नहीं वे बच्चे भी बोल पड़ेंगे जो अब तक चुप रहने में ही अपनी भलाई समझते आए थे। ◆

लेखक परिचयः करीब 21 वर्षों से प्रारंभिक शिक्षा में शिक्षक शिक्षा, शिक्षण सामग्री एवं पाठ्यपुस्तक निर्माण, शिक्षाक्रम और अनुवाद के क्षेत्र में कार्य। हाल-फिलहाल विभिन्न संस्थाओं के साथ बतौर शैक्षिक सलाहकार कार्यरत हैं।

संपर्क : 9414057424; ravikaant@gmail.com

सतत एवं व्यापक मूल्यांकन

हौव्वा तो नहीं?

कालूराम शर्मा

इन दिनों देश में सतत एवं समग्र मूल्यांकन (सीसीई) के चर्चे हैं। ऐसा माना जा रहा है कि स्कूली शिक्षा में गुणात्मक सुधार का रामबाण नुस्खा होगा सीसीई। जबसे आरटीई- 2009 में इस बात का जिक्र किया गया है तबसे ही सीसीई को हर राज्य अपनाने के लिए आतुर या कहें कि बाध्य दिखाई दे रहा है। आजकल आरटीई की बाध्यता के चलते अधिकांश राज्य सीसीई को अपना चुके हैं।

बहरहाल, आरटीई गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की पैरवी करता है। कहा यह जा रहा है कि गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के रास्ते में एक रोड़ा वर्तमान परीक्षा भी होती है। यह सवाल अभी भी हमारे सामने होना चाहिए कि आखिर सीसीई के जरिए जो नया नजरिया पेश किया जा रहा है क्या वह शिक्षण प्रक्रियाओं को संबल प्रदान कर पा रहा है? और वर्तमान परीक्षा की जड़ों को कमजोर कर पाएगा? या कि यह भी एक कर्मकांड बनकर रह जाएगा?

वैसे सीसीई का एकमात्र उद्देश्य यह है कि स्कूल में सीखने-सिखाने का माहौल बने। सीसीई के जो चार मोटे-मोटे तत्व हैं उनका जिक्र करना लाजिमी होगा जो इस प्रकार है।

सतत एवं व्यापक मूल्यांकन-

1. बच्चों की पृष्ठभूमि को समझने के रूप में।
2. सीखने-सिखाने की प्रक्रियाओं को बेहतर बनाने के रूप मे।
3. शिक्षक के सशक्तीकरण के रूप में।
4. परीक्षा प्रणाली में सुधार के रूप में।

दरअसल, ये चार बातें स्कूली शिक्षा को बेहद प्रभावित करती हैं। जिसके साथ सीखने-सिखाने की बात की जा रही है बनाम बच्चे को समझना एक अहम तत्व है। दूसरा कि स्कूल में सीखना-सिखाना कैसे बेहतर हो सकता है। इसको लेकर शिक्षक की तैयारी व शिक्षक को सशक्त बनाना। इसके मायने यह है कि शिक्षक को सीखने-सिखाने के साथ ही आकलन के भी अधिकार देना कि वह क्या और कैसे जांचना चाहता है। चौथा, जिस परीक्षा प्रणाली ने शिक्षा पर कब्जा कर रखा है उसमें सुधार करना।

सीसीई में जो दो 'सी' हैं वे काफी मायने के हैं। पहले 'सी' का आशय है सततता। अर्थात जब कक्षा में बच्चों का सीखना-सिखाना चल रहा हो वहीं शिक्षक यह समझ ले कि बच्चे क्या सीख पा रहे और क्या नहीं। अगर सही मायनों में एक कक्षा में सीखना-सिखाना चल रहा हो तो शिक्षक हर बच्चे पर नजर रखता भी है। दूसरे 'सी' का अर्थ है व्यापकता। एक इंसान के रूप में बच्चे को बनते हुए देखने की कोशिश में शिक्षक उसे व्यापकता में देखे और उसके साथ बर्ताव करे। इसकी चर्चा लेख में हम आगे करेंगे।

दरअसल, सीसीई को जिन भी राज्यों में अपनाया गया है वह एक कार्यक्रम के रूप में या कहें कि एक प्रोजेक्ट के रूप में संकल्पित से अधिक नहीं लगता। सीसीई को एक चुने गए कार्य क्षेत्र में जिसमें कुछ स्कूलों को चुनकर वहां इसका पायलेटिंग किया जाता है। सीसीई की पायलेट कार्यशालाओं में इन चार तत्वों पर संक्षिप्त में बातचीत होते मैंने स्वयं देखी मगर व्यापक स्कूल स्तर पर ये सब पीछे को छूट जाती है और फिर से परीक्षा की तर्ज पर ही सीसीई चल निकलता है। सबसे अधिक जोर इस बात पर होता है कि आखिर शिक्षक के द्वारा किए अवलोकन को प्रपत्र में भरना, बच्चों द्वारा स्वमूल्यांकन प्रपत्र को भरना, पोर्टफोलियो में टिप्पणियां कैसे भरनी है, सीखने-सिखाने के दौरान संकेतक का निर्माण करना और उन्हें बच्चों में देखना और प्रगति पत्रक कैसे तैयार किया जाना है आदि। इन बातों में वक्त और वित्त दोनों बेतहाशा खर्च होते दिखते हैं। सच पूछें तो शिक्षक का स्कूल में अधिक वक्त इन्हीं कर्मकांडों में बर्बाद होता है। इस परिस्थिति में सीसीई भी तथाकथित परीक्षा का ही स्वरूप लेता दिखाई देता है।

सीसीई और सीखना-सिखाना

सीसीई को वाकई में लागू करने की प्रक्रिया के पहले ही किसी राज्य को यह तय कर लेना चाहिए कि स्कूलों में सीखना-सिखाना कैसे बेहतर हो सके। वैसे सीखना-सिखाना स्कूलों में बेहतर न होने का एक प्रमुख कारण हो सकता है परीक्षा की परंपरागत प्रणाली। परीक्षा की यह व्यवस्था शिक्षकों-बच्चों और अभिभावकों में आंतक पैदा करती है। बोर्ड परीक्षा के नतीजे समाज में न केवल गैरबराबरी पैदा करते हैं बल्कि एक दूसरे से तुलना करते हुए तनाव को जन्म देते हैं। यह कहने की जरूरत नहीं कि बोर्ड परीक्षा के नतीजे छात्रों को आत्महत्या तक करने के लिए मजबूर कर देते हैं। सीबीएसई के परीक्षा परिणामों से सबक लिया जा सकता है कि किस तरह से अस्सी फीसदी अंक आने के बावजूद छात्र और उनके अभिभावक तनाव से गुजर रहे हैं। वे इस बात की तरफ ध्यान नहीं देते कि आखिर उनके बच्चों की समझ में कितना इजाफा हुआ है। बहरहाल, सीसीई को अगर कोई राज्य इस रूप में देखे कि इससे सीखने-सिखाने की प्रक्रियाओं को बल मिलेगा अतः शिक्षकों को सीखने-सिखाने की प्रक्रियाओं से लैस किया जाए। तो इसका अर्थ होगा कि सेवाकालीन शिक्षक प्रशिक्षण को बेहतर बनाया जाए। सेवाकालीन शिक्षक प्रशिक्षणों में शिक्षकों को कक्षागत सीखने-सिखाने को लेकर चिंतन-मनन के मौके दिए जाएं। जो बातें सीसीई के संदर्भ में कही गई हैं उन्हें लेकर शिक्षकों की समझ को मजबूत बनाया जाए। एनसीएफ 2005 इस बात पर जोर देता है कि सीखने-सिखाने की प्रक्रिया का एक हिस्सा है बच्चों को और उनकी पृष्ठभूमि को समझना। इस लिहाज से यह जरूरी है कि शिक्षकों का उन्मुखीकरण इस प्रकार से किया जाए कि वे बालमन को टटोलें।

हम देख रहे हैं कि जिस तरह से सीसीई को लागू किया जा रहा है वह पारंपरिक मूल्यांकन का ही एक प्रकार है। सीसीई का वर्तमान ढांचा कुछ इस प्रकार का है कि पल-पल पर बच्चों का मूल्यांकन किया जाता है। सीसीई को हम अगर शिक्षक के सशक्तीकरण के रूप में देख रहे हैं तो फिर शिक्षक पर हमें भरोसा दिखाना होगा। इतना ही नहीं उसे विषय और शिक्षणशास्त्र में सशक्त बनाना होगा। स्कूलों में शिक्षा के नाम पर क्या हो रहा है -वही परीक्षा की तैयारी। यही वजह है कि डेविड ऑसबरा अपने लेख में लिखते हैं कि परीक्षा को हमारे शिक्षा तंत्र से बाहर कर देना चाहिए। वे यह मानते हैं कि शाला शिक्षण के स्तर में गिरावट के कारणों में मूल्यांकन सर्वाधिक शक्तिशाली कारण रहा है।

सीसीई का पहला ''सी'' यानी कि सतत (कंटिन्यूअस)

सीसीई में सतत के तहत दो प्रकार के मूल्यांकन की बात कही जा रहा है- एक है रचनात्मक (फार्मेटिव) और दूसरी योगात्मक (समेटिव)। रचनात्मक का अर्थ है कक्षाओं में रोजाना बच्चों के सीखने-सिखाने के दौरान मूल्यांकन करना कि वे क्या सीख पा रहे हैं और क्या नहीं। इस प्रकार के मूल्यांकन में एक तरफ जहां शिक्षक को अपनी शिक्षण प्रक्रिया को दुरुस्त करने के लिए फीडबैक मिलता है वहीं यह छात्र को अपनी ताकत और कमियां देखने का अवसर देता है।

दूसरा है योगात्मक जिसमें साल में तीन परीक्षाएं होंगी। आमतौर पर इस तरह के आकलन में अंक या ग्रेड दिए जाते रहे हैं। इनका इस्तेमाल शिक्षक के अलावा स्कूल, अभिभावक, राज्य अथवा जिला स्तरीय प्रशासक, रोजगार देने वाली संस्थाएं तथा उच्चतर शिक्षा देने वाली संस्थाएं आदि करती हैं।

अगर हम देखें तो पारंपरिक तौर पर एक स्कूल में कक्षाओं में वर्ष में तीन परीक्षाएं होती थीं- त्रैमासिक परीक्षा, अर्द्धवार्षिक परीक्षा और वार्षिक परीक्षा। अब तो सीसीई के तहत पूरे साल भर ही परीक्षाएं होनी है। उल्लेखनीय है कि सीसीई के पहले ''सी'' का अर्थ है सतत यानी कि कंटिन्यूअस। तो इसके तहत बच्चों का निरंतर मूल्यांकन होना चाहिए। इसके पीछे भावना यह रही है कि जब कक्षाओं में शिक्षिका शिक्षण कार्य कर रही हो तब वह ये देखती रहे कि बच्चों ने अमूक अवधारणा को किस तरह से आत्मसात किया है। इसमें यह देखना भी शामिल है कि बच्ची को उस अवधारणा को समझने में किस प्रकार की कठिनाई आ रही है। दूसरा कि अगर कठिनाई आ रही है तो शिक्षिका अपने शिक्षण कार्य में किसी प्रकार का बदलाव करे ताकि एक बेहतर समझ बन सके। इस सतत मूल्यांकन का अर्थ यह है कि कक्षा में ही मूल्यांकन होता रहे। मगर इसके ठीक उलट अब हर हफ्ते बच्चों को एक टेस्ट देना होता है। दूसरा यह कि बच्चों को उस टेस्ट में उपस्थित रहना होता है।

एक तो यह सुनिश्चित करना मुश्किल है कि बच्चे स्कूल में नियमित आएं। देखने में आ रहा है कि खासकर सरकारी स्कूलों में बच्चों की सबसे बड़ी समस्या यह होती है कि वे नियमित आ नहीं पाते हैं। वैसे तो शिक्षा विभाग बच्चों के नियमित न आने का ठीकरा बच्चों और उनके अभिभावकों पर फोड़ता है। अमूमन यही सुनने को मिलता है कि ''अरे इन बच्चों को तो इनके मां-बाप पढ़ाना नहीं चाहते। या कि इनके अभिभावकों में शिक्षा के प्रति सजगता नहीं है।'' ऐसे और भी तमाम आरोप बच्चों और उनके अभिभावकों पर लगाए जाते हैं। मगर इसे गहराई से समझने की कोशिश नहीं की जाती कि आखिर बच्चे अगर स्कूल में नियमित नहीं आते हैं तो इसके निहितार्थ क्या हैं। कहीं ऐसा तो नहीं कि बच्चों को जिस प्रकार की शिक्षा दी जा रही है वह उन्हें लुभाती नहीं। अगर अभिभावक बच्चों को स्कूल नहीं भेजते तो उन्हें इसका आभास हो कि यह शिक्षा उनके फायदे की नहीं? या कि घर के अन्य कार्य स्कूल जाने से ज्यादा प्रासंगिक हैं? ऐसे तमाम सवाल हो सकते हैं जिनके जवाब हमारे शिक्षा तंत्र के पास नहीं हैं। और सच पूछें तो हमारा शिक्षा तंत्र एक खास सीधे-सपाट रास्ते पर चलता है जो बच्चों और उनकी पृष्ठभूमि को नजरंदाज करता है।

जिस सीसीई की बात की जा रही है उससे ऐसा नहीं कि सरकारी स्कूलों में ही परेशानी है। बल्कि निजी स्कूलों में यह कहीं अधिक कहर ढा रहा है। निजी स्कूलों में हर हफ्ते टेस्ट लिए जाते हैं। और इसकी सबसे मानसिक प्रताड़ना उनके अभिभावकों को उठानी पड़ती है। बच्चों ने क्या सीखा यह इतना महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि जो भी कक्षाओं में पढ़ाया जा रहा है उसका टेस्ट लेना अति जरूरी हो जाता है। निजी स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चे साल भर टेस्ट और परीक्षाएं ही देते रहते हैं। जहां उनकी व्यक्तिगत डायरियां लाल स्याही से की गई टिप्पणियों से रंगी होती हैं। वास्तव में यह एक अवधारणात्क समस्या है। सततता को इस रूप में देखा गया है कि जब शिक्षण हो रहा हो तब बच्चों के सीखने के स्तर को समझा जाए न कि हर हफ्ते टेस्ट लिए जाएं। दूसरी समस्या यह है कि हमारी शिक्षण व्यवस्था कक्षाओं के स्तरीकरण से बर्बाद हो रही है। परीक्षा इस स्तरीकरण को और बढ़ावा देती है। यह बात सीखने-सिखाने के मूल स्वरूप के ही खिलाफ है। अगर किसी बच्चे को पहली-दूसरी में पढ़ना नहीं आया तो फिर उसे सिद्धांततः (स्कूल के कथित सि्द्धांत के अनुसार) आगे की कक्षाओं में पढ़ना सीखने का मौका नहीं मिलेगा। इतना ही नहीं एक ही साल में कक्षा का पाठ्यक्रम खंडों में इस कदर बंटा होता है कि एक माह पहले कक्षा में क्या किया इसका वर्तमान से कोई लेना-देना नहीं होता। शिक्षा में कुछ मूलभूत चीज़ें हैं मसलन हर बच्चा सीख सकता है, हर बच्चे की सीखने की गति फर्क होती है ये सबकी सब हाशिए के बाहर ही दम तोड़ती रहती है और महज़ जुमलेबाजी तक ही सीमित रह जाती है।

सीसीई का दूसरा ''सी'' यानी कि समग्रता

सीसीई के अंतर्गत जो बहुत जोर से कहा जा रहा है वह यह कि परंपरागत परीक्षा प्रणाली बच्चों के शैक्षिक क्षेत्र के अलावा सहशैक्षिक क्षेत्रों का मूल्यांकन नहीं करती। और दूसरी बात यह कि शैक्षिक क्षेत्रों का भी ठीक से मूल्यांकन नहीं करती। तो बच्चों के सीखने का व्यापक अर्थों में मूल्यांकन किया जाए। बहरहाल, बात तो सही लगती है। मगर ऐसा क्यों है कि एक बच्चे के हर सीखने का मूल्यांकन किया जाए। वैसे तो स्कूली दायरे में हर कुछ तो बच्चे को नहीं सिखाया जाता। अगर हम मान भी लें कि स्कूल सीखने-सिखाने के केंद्र हैं तो वही मूल्यांकन हो जो किया जा सकता है।

हर चीज को मूल्यांकन के दायरे में लाना

वैसे स्कूल, सीखने-सिखाने का एक जरिया है मगर एक निश्चित दायरे में विषयों और अन्य क्षेत्रों में बच्चे सीखते हैं। वास्तव में समाज में रहकर भी बहुत अहम चीजें सीखी जाती है। मगर समाज हर बार और तुरंत ही उनका मूल्यांकन नहीं करता। इस लिहाज से हम स्कूली दायरे में हर चीज को मूल्यांकन की कसौटी पर क्यों परखना चाहते हैं। हां, इसकी कोशिशें होनी चाहिए कि वे मूल्य और हुनर जो एक बच्चे में विकसित होने चाहिए उनको सिखाने के अवसर स्कूल को देने चाहिए।

सीसीई के तहत सह शैक्षिक क्षेत्र के कई मामले हैं इनमें से एक मामला है ईमानदारी। अब आप ईमानदारी का मूल्यांकन कैसे करेंगे। एक निजी स्कूल की छात्रा ने इस बारे में एक दिलचस्प किस्सा सुनाया जो उसके स्कूल में घटित हुआ। उस छात्रा ने बताया कि एक लड़की का पेन गुम गया था। वह पेन उसी कक्षा की एक लड़की को मिला और उसने अपनी कक्षा अध्यापिका के पास जमा कर दिया। अगले दिन उस लड़की को प्रार्थन सभा में सबके सामने शाबाशी दी गई और उसके प्रगति पत्रक में उसे ईमानदार बताया गया। अब यह तो सही है कि रोजान तो ''पेन'' गुमता नहीं है। सो, अब दूसरी लड़कियों को अहसास हुआ कि ऐसा क्या किया जाए कि उन्हें भी ईमानदारी से नवाजा जाए। इस पर एक लड़की ने दूसरे के बस्ते में से एक स्केल निकालकर कक्षा अध्यापिका के पास जमा कर दी। हालांकि वह पकड़ी गई। तो कहने का अर्थ यह है कि स्कूली दायरे में जिन चीजों की जांच की जानी जरूरी हो उनकी ही जांच की जाए। वैसे ईमानदारी का गुण और भी कई प्रकार से जांचा जा सकता है। पर इसे रोजाना तो नहीं जांचा जा सकता ना! विज्ञान शिक्षण के दौरान एक छात्र या छात्रा प्रयोग के निष्कर्ष कितनी ईमानदारी से लिखती है। क्या वह पूर्व के या दूसरे के अवलोकनों की नकल तो नहीं कर रही है। बहरहाल, इस बारे में गिजु भाई दिवास्वपन में कहते हैं ''परीक्षा उन्हीं विषयों की ली जाए जो परीक्षा द्वारा जांचे जा सकते हैं। बाकी विषयों को परीक्षा से मुक्त रखा जाए।'' आगे वे यह भी कहते हैं - ''परीक्षा शिक्षकों द्वारा ही ली जानी चाहिए। वे ही अपने विद्यार्थियों की शक्ति को अधिक जान सकते हैं। उनकी कमजोरी के कारणों से भी वे परिचित रहते हैं।''

शिक्षकों का सीसीई के प्रति नजरिया

शिक्षकों के जो अनुभव सामने आ रहे हैं उनसे पता चलता है कि सीसीई सीखने-सिखाने की प्रक्रियाओं को मजबूत बनाने के बजाय समय जाया करती है। तरह-तरह के फार्मेट भरने में काफी वक्त जाता है। बच्चों का अवलोकन करना और उसे अवलोकन प्रपत्र में दर्ज करना। बच्चों के पोर्टफोलियो में उनकी रचनाओं वगैरह को रखना और उन पर टिप्पणी लिखना, कक्षा शिक्षण के प्रत्येक विषय के प्रत्येक अध्याय के सीखने-सिखाने के संकेतकों का निर्माण करना और उन पर टिप्पणी लिखना जैसे कार्य के चलते सीखने-सिखाने की प्रक्रियाएं भला कैसे सहज और मजबूत हो सकती है।

अगर सटीक विश्लेषण किया जाए तो परंपरागत परीक्षा प्रणाली में शिक्षक का समय साल में तीन बार होने वाली परीक्षाओं में जाता रहा है। वह चाहे तो बाकी वक्त में शिक्षण बेहतर कर ही सकता है। अगर सीसीई की बात करें तो यहां शिक्षक का अधिकांश वक्त सीखने-सिखाने की प्रक्रियाओं के मूल्यांकन में चला जाता है।

प्रतिभा पर्व और 35 फीसदी उत्कृष्ट शालाएंः इतर मूल्यांकन का चक्रव्यूह

दरअसल, समस्या हमारे शिक्षा तंत्र की एक-दो नहीं है। ऐसा नहीं कि सीसीई लागू हो गया तो बाकी सब कुछ इससे निर्धारित हो जाएगा। सीसीई के अलावा और भी कईं प्रकार के मूल्यांकन चलते रहते हैं। इन पर अंकुश लगाने की कोई बात नहीं होती। अगर हम मध्यप्रदेश की बात करें तो पूरे प्रदेश की स्कूलों के बच्चों का मूल्यांकन किया जाता है जिसे प्रतिभा पर्व कहा जाता है। प्रतिभा पर्व में पूरे प्रदेश की स्कूली शिक्षा की तासीर का मूल्यांकन किया जाता है। प्रतिभा पर्व एक शैक्षिक सत्र में दो बार होता है जिसमें शिक्षा विभाग का पूरा अमला जुट जाता है। इस टेस्ट के प्रश्न पत्र राज्य स्तर से बनकर आते हैं।

इसी प्रकार से मध्यप्रदेश के इंदौर जिले में गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्राप्त करने के लिए 35 फीसदी शालाओं का चयन कर वहां बच्चों का शैक्षिक सत्र में तीन बार टेस्ट लिया जाता है। ऐसा कहा जा रहा है कि इन टेस्ट के माध्यम से बच्चों का शैक्षिक स्तर पता किया जाता है और फिर उन शालाओं को गुणवत्ता के तय मापदंड पर पाने के बाद अगले चरण में धकेल दिया जाता है। इसके अलावा और किस्म के टेस्ट भी होते रहते हैं जैसे ‘असर‘ की ओर से मूल्यांकन आदि। तो कहा जा सकता है कि सीखने-सिखाने के अवसर दिए बिना निरर्थक मूल्यांकन का सिलसिला चलता रहता है।

क्या है संकेतक

सीसीई का एक जो कि सबसे उबाऊ और क्लिष्ट पहलू है संकेतक बनाना। किसी भी विषय के अध्याय या अवधारणा को पढ़ाने के पहले शिक्षक उसके संकेतक बनाएंगे जिसे सीखने के बिंदु भी कहा जाता है। संकेतक के माध्यम से यह समझने की बात कही जा रही है कि बच्चों में अपेक्षित कौशल या समझ का विकास हुआ है या नहीं। इस पूरी प्रक्रिया में संकेतक बनाना एक यांत्रिक प्रक्रिया बनकर रह जाती है और शिक्षक का ध्यान सीखने-सिखाने से भटककर संकेतक बनाने में लग जाता है। संकेतक एक तरह से सीखने को टुकड़ों में तोड़ देने की कवायद है जो न्यूनतम-अधिगम स्तर (एमएलएल) की ओर ले जाता है। दरअसल हमने एमएलएल को तो खारिज बहुत पहले कर दिया है। इस तरह से संकेतक की प्रक्रिया को अपनाना एक तरह से एमएलएल को अपनाना ही तो है। वास्तव में हम सीसीई को परीक्षा से जुदा करके देख ही नहीं पा रहे हैं। दरअसल, सीसीई के तहत सीखने को समग्र रूप से देखने की उम्मीद की जा रही थी मगर यह तो खंड-खंड पाखंड की तर्ज पर ही लागू किया गया है।

बच्चों की पृष्ठभूमि की समझ और सीखने-सिखाने की अवहेलना

दरअसल, सीसीई को अगर हम इस रूप में देखते कि इसके जरिए हम स्कूलों में सीखने-सिखाने का ऐसा माहौल बना पाएंगे या कि बच्चों को स्वाभाविक तौर पर सीखने के अवसर दिए जा सकेंगे तो यह एक बेहतर कदम होता। मगर, ऐसा होता हुआ दिखता नहीं है। जैसे ही कुछ पढ़ाया-लिखाया कि झट से मूल्यांकन कर डालो कि क्या सीखा। अब ऐसे में सीखना-सिखाना तो हाशिए पर ही रहेगा ना! दूसरा अहम पहलू यह है कि सेवाकालीन शिक्षक प्रशिक्षणों में सीसीई के अंतर्गत जो फार्मेट दिए गए हैं उन्हें किस प्रकार से भरा जाना है इससे इतर कुछ खास नहीं होता।

अगर सीखना-सिखाना ठीक से हो जाए तो परीक्षा तो वैसे ही हाशिए पर चली जाएगी। जाहिर है पिछले कई सालों से चिंता यह जाहिर की जा रही है कि परीक्षा ही सब कुछ तय करने लगी है। सीखना-सिखाना हो न हो मगर परीक्षा तो जरूर होगी। और परीक्षा को लेकर पूरा तंत्र और समाज कई तरह के हथकंडे अपनाता है। खासकर बोर्ड की परीक्षाओं के तो ऐसे अनगिनत उदाहरण हैं जो पूरी शिक्षा व्यवस्था पर सवालिया निशान खड़ा करते हैं।

मामला प्रमाण जुटाने का बनाम शक का

शिक्षा में प्रमाण को बड़ा ही महत्व दिया गया है। जो भी कुछ बच्चा करे उसके प्रमाण समेटकर संजोए जाए। चाहे पोर्टफोलियो की बात हो या कक्षा शिक्षण के दौरान अवलोकन की। हर कहीं शिक्षक से कहा जा रहा है कि वह बच्चों के बारे मे जो कुछ किया है उसके प्रमाण जुटाए। पोर्टफोलियो बनाम प्रमाण के पीछे समझ यह है कि बच्चा जो करे उसका रेकार्ड रखा जाए। यह रेकार्ड बच्चे की प्रगति के बारे में कुछ कह सकता है। मगर यह एक कर्मकांड बनकर ही रह गया। अब बच्चे की हर चीज़ को पोर्टफोलियो में रखने के निर्देश हैं। एक शिक्षक अपने छात्र के व्यक्तित्व से लेकर, उसकी विषय के बारे में समझ इत्यादि को लेकर जो समझ बनाता है उसे हरदम रेकार्ड के दायरे में लाना यांत्रिक प्रक्रिया ही तो है। इसके निहितार्थ यह है कि तंत्र को शिक्षक पर संदेह है और उसके द्वारा किए जा रहे शैक्षिक कार्यों पर नजर रखी जाए। क्या यह आजादी शिक्षक पर नहीं छोड़ी जाए कि वह अपने स्तर पर बच्चों को समझने की समझ बनाए। हर किसी चीज के प्रमाण जुटाने की प्रक्रिया सीखने-सिखाने की प्रक्रिया में बाधक ही बनती है।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि आज स्कूलों में सीखने-सिखाने की प्रक्रियाओं को बेहतर बनाने की जरूरत है। सीसीई इस प्रक्रिया में कैसे योगदान कर सकता है इसकी ओर ध्यान देने की जरूरत है। ◆

लेखक परिचयः पिछले पच्चीस सालों से विज्ञान शिक्षण, पर्यावरण अध्ययन, शिक्षा और समाज के विषयों पर निरंतर लेखन। एकलव्य के होशंगाबाद विज्ञान शिक्षण कार्यक्रम में लगभग 18 वर्ष तक संलग्न रहे। वर्तमान में अज़ीम प्रेमजी फाउंडेशन, खरगोन (मध्यप्रदेश) में कार्यरत हैं।

संपर्कः 8226000428; ईमेलः kr.sharma@azimpremjifoundation.org

संदर्भ

1. एनसीएफ 2005
2. मूल्यांकन का मूल्यांकन; डेविड ऑसबरॉ; शिक्षा विमर्श, अगस्त-सितम्बर, 1998; अनुवाद : रोहित धनकर
3. दिवास्वप्न; गिजू भाई बधेका, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, राजस्थान
4. बच्चे असफल क्यों होते हैं?; एकलव्य प्रकाशन, भोपाल, मध्य प्रदेश
5. सतत एवं व्यापक मूल्यांकन - मार्गदर्शिका; एनसीईआरटी, नई दिल्ली

बाल साहित्यः इधर के दृश्य

पल्लव

हिंदी में बच्चों की पत्रिकाएं इतनी सी हैं कि आप उनके नाम भी याद रख सकें। फिर उनमें भी पठनीय और दृष्टिसंपन्न पत्रिकाओं की संख्या दो-तीन से आगे नहीं बढ़ पाती। ऐसे में एक नई पत्रिका का आगमन सुखद है और जब यह जानकारी हो कि इसे सोच समझकर, बच्चों में भी खास आयु वर्ग के लिए निकाला जा रहा है तो सुख बढ़ जाता है। चकमक के संपादन से प्रसिद्ध हुए सुशील शुक्ल के संपादन में नई पत्रिका 'प्लूटो' का आगमन हुआ है। तापोशी घोषाल इसकी डिजाइनर (कला संपादक) हैं और उनकी यह टीम पत्रिका को बेहद प्राणवान बनाती है। बाल साहित्य में वास्तविक रुचि- गति रखने वाले लोगों से लिखवाना, फिर एक-एक रचना का कायदे से चयन करना, फिर उनको पढ़कर सुरुचिपूर्ण चित्र बनाना- यह परिश्रम और दृष्टि इस पत्रिका में दिखाई देती है। जिस अभाव की चर्चा हिंदी बाल साहित्य का स्थाई भाव है 'प्लूटो' उसका कायदे से किया गया प्रत्याख्यान है। पत्रिका के पहले अंक में प्रयाग शुक्ल और नरेश सक्सेना की कविताएं, प्रभात की कहानी, जगदीश जोशी की चित्र पहेली और पिछली पीढ़ी के निरंकारदेव सेवक की कविता के साथ कुछ अनाम सामग्री भी है। प्रभात की कहानी 'कुतुबमीनार का पेड' को पढ़ना रोचक अनुभव है। एक कौवे ने कुतुबमीनार देखी और वह उसे साइकिल के पीछे बांध जंगल में ले गया। पाठकों को अरुंधति राय का प्रसिद्ध निबंध याद होगा 'कल्पना का अंत'- यह कहानी कल्पनाशीलता का नया आयाम है। यह वह सृजनात्मक कल्पनाशीलता है जो बच्चे को असंभव सोचने को उत्साहित करे। दूसरे अंक में विनता विश्वनाथन की रचनाएं हैं और अंक अधिकांशतः प्रकृति से संबंधित रचनाओं से भरा है। पशु, पक्षी, पेड़, जंगल, चूहे और बच्चे। विचारणीय है कि जिस दौर में हमारा नागरिक जीवन इस स्थिति में आ गया है कि कांटेदार पौधे/पेड़ की सामान्य जानकारी 'कौन बनेगा करोड़पति' में हजारों का सवाल बन जाए तब प्रकृति से दूर होने की विडम्बना साफ-साफ दिखाई देती है। विनता विश्वनाथन की रचनाएं 'चींटी की झपकी' और 'मिट्टी के रंग' जहां प्रकृति के विभिन्न रूपों से पाठकों को जोड़ती है वहीं 'खोखल में दो महीने' जैसी सूचना प्रधान रचना और 'चांद' शृंखला की चित्र रचना भी अंक की उपलब्धि है। इस अंक में शशि सबलोक की कहानी 'आंख खुली तो सपना गिर गया' और अनाम रचनाएं 'निडर चूहे' और 'निमरा का बस्ता' भी पठनीय है। संपादक सुशील शुक्ल की कविता 'खट और पट' तथा संस्मरण 'रहमत दादा का झोला' रंगों में इजाफा करते हैं। सामुदायिकता और सह जीवन की ऊर्जा से भरी ये रचनाएं सचमुच बढ़िया हैं। ये बच्चों को उपदेशात्मकता के अवगुण से बचती हैं और अपनी सहजता-रम्यता में पाठक को सराबोर करने की शक्ति से संपन्न हैं। पत्रिका का तीसरा अंक भी विविधवर्णी रचनाओं से संपन्न है किन्तु यहां अनाम रचनाकारों की रचनाओं की भरमार है। प्रभात की कहानी 'पिंकू के पापा' दिलचस्प है और बच्चों के बारे में धारणाएं बनाने से टोकती है। एक और रचना 'आवाज' के रचनाकार का नाम नहीं है किन्तु यह रचना प्रकृति और परिवेश के संबंध में गहराई से मनुष्य के रिश्ते को बताती है। चीजों को देखना और महसूस करना हम जानते

हैं लेकिन जानकारी को हार्दिक ढंग से यह रचना बताती है। चन्दन यादव की कविता 'सुन भाई ऊंट' और अनाम कवि की 'गाय ओ गाय' लीक से हटकर लिखी गई कविताएं हैं। अंतिम आवरण पर छपी राजशेखर की कविता तो उद्धृत ही कर देनी चाहिए -

अदम बदम अदम बदम
चलो चलें कदम कदम
रात के हम टिम टिम टिम
भोर के हम चम चम चम
खर खर खरगोश हम
टिपिर टिपिर ओस हम
खेत खूत खात बोले
पटर पटर पात बोले
माटी के कुइयां मुइयां
जंगल के हइया हुइया
कुइयां मुइयां हइया हुइया
कुइयां मुइयां हइया हुइया कुइयां मुइयां हम

प्लूटो का पताः नॉलेज सेंटर सी-404 बेसमेंट डिफेन्स कॉलोनी, नई दिल्ली-110024
वार्षिक सदस्यताः 360 रुपये (साधारण डाक), 425 रुपये (पंजीकृत डाक)

पत्रिका का चौथा अंक भिन्न-भिन्न आस्वादपरक रचनाओं से बना है जिसमें वरिष्ठ रचनाकारों से लगाकर नवोदित लोग शामिल हैं। सत्यू की कहानी 'अनारको के सवाल' दिलचस्प कहानी है और यह वह कहानी है जो सबको पढ़नी चाहिए। अनारको के सवाल हैं- 'सब चीजें कौन तय करता है? हमारी परीक्षा होगी ये कौन तय करता है? पापा छह दिन काम करेंगे और एक दिन छुट्टी होगी ये कौन तय करता है? और अम्मी तुम सातों दिन काम करोगी ये कौन तय करता है?' बताएं! हैं जवाब? मजेदार बात है अनारको कक्षा चार में पढ़ती है और उसके सवाल अनंत हैं लेकिन हमारी व्यवस्था जिसमें परिवार, स्कूल और समाज सब कोई शामिल हैं उसके इन सवालों के जवाब देने में कोई रुचि नहीं लेती। इस अंक में प्रतिभाशाली फिल्मकार वरुण ग्रोवर के मुक्तक हैं। शीर्षक है - 'तीन तिगाड़े'

माचिस गिल्ली
सूखी तिल्ली
बरसा शिमला
बह गई दिल्ली

कूद कुदाई
चिरी उराई
चैन्नई से
लेकर मदुराई

चोरी चोरी
चटनी चटना
खट्टी रांची
मीठा पटना

छोटे बच्चों (लगभग सात, आठ, दस साल तक के) को ध्यान में रखकर निकाली गई यह द्वैमासिक पत्रिका बेहद प्राणवान है और इसका स्वागत होना चाहिए। लगभग तीस रंगीन पृष्ठों की इस पत्रिका का दाम 50 रुपये ज्यादा लग सकता है किन्तु जब तक ऐसे प्रयास व्यावसायिक ढंग से नहीं किए जाएंगे तब तक कुछ संभ्रांत समूहों के मध्य सिमटे रहने को अभिशप्त होंगे। क्या ही अच्छा हो कि इस तरह की पत्रिकाओं का खूब प्रचार-प्रसार हो और सचमुच उन पाठकों तक पहुंचे जिनके लिए इनका निर्माण हुआ है।

बच्चों के बाबा

बाबा साहब भीमराव अम्बेडकर का भारतीय जन-जीवन पर असर कितना महत्त्वपूर्ण है यह कहने की बात नहीं। उनसे सहमत-असहमत होना संभव है किन्तु उनकी अनदेखी असंभव है। ऐसे व्यक्तित्व पर बच्चों के लिए कोई किताब ध्यान में आती है? गांधी, नेहरू, भगत सिंह और यहां तक सावरकर पर बच्चों के लिए किताबें उपलब्ध हैं किन्तु बाबा साहब भीमराव अम्बेडकर पर हिंदी में शायद ही कोई किताब हो जिसे स्तरीय कहा जा सके। एकलव्य से प्रकाशित श्री विद्या नटराजन और एस. आनंद की कथा तथा दुर्गाबाई व्याम और सुभाष व्याम के चित्रों से सजी इस किताब को पढ़ना भारतीय सामाजिक आंदोलन से आत्मीय परिचय करने जैसा है। यह इसलिए भी आवश्यक है कि बच्चा ऐसे विचारकों के बारे में सही परिप्रेक्ष्य से विचार तो कर सके। उसके निर्णयों और मतों का आधार पूर्वाग्रह और घृणा न हो। मूलतः अंग्रेजी में लिखी इस किताब को सरल-सहज हिंदी में टुलटुल विश्वास ने तैयार किया है। 'भीमायन' शीर्षक की यह किताब एक रोचक और बहुप्रचलित बहस से शुरू होती है जिसमें एक तथाकथित सवर्ण युवक एक युवती से बहस कर रहा है कि भारत में अब कहां छुआछूत है? आरक्षण की कोई जरूरत नहीं। इत्यादि। इस बहस से भीमराव रामजी अम्बेडकर की कहानी शुरू होती है जिसे दुर्गाबाई व्याम और सुभाष व्याम ने गोंड शैली के अद्‌भुत चित्रों से सजाया-बनाया-बढ़ाया है। पुस्तक में अम्बेडकर के बचपन, जीवन संघर्ष, तत्कालीन भारतीय समाज के अनेक चित्र हैं तो साथ-साथ बीते दशक के वे ताजा समाचार पत्र कतरनें भी हैं जिनमें वर्तमान छुआछूत, भेदभाव और जातीय उत्पीड़न-हिंसा की खबरें हैं। पुस्तक के प्रारम्भ में प्रसंग है स्कूल में पढ़ रहे बालक भीम की प्यास का। उसे पानी नहीं मिलता। पंक्तियां देखिए -

कुएं पर बच्चे और हौद पर जानवर,
पेट फूटने तक पी सकते हैं पानी।
पर तब गांव रेगिस्तान बन जाता है
जब प्यास बुझाना चाहूं अपनी।

जाति की क्रूरता एक भयावह सच्चाई है जिसे झुठलाना व्यर्थ है। बालक भीम के अनुभव उसे न्यायसंगत और समतापूर्ण संविधान लिखने की तरफ ले गए। किताब में यह अच्छा प्रयोग है कि बालक भीम के साथ हुई क्रूरताओं के समानांतर आज की घटनाओं की कतरनें दे दी गई हैं जो इस भ्रम को धोने में मदद करती हैं कि अब कहां है अस्पृश्यता? अब

आरक्षण की जरूरत क्या है? इस बात को समझना आवश्यक है आरक्षण पर हम हजार बहस करें लेकिन हमारे समाज में व्याप्त ऊंच-नीच की दुर्भावना से लड़े बगैर हमारा विकास नहीं हो सकता। किताब में बाबा साहब अम्बेडकर के जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं के प्रसंग आए हैं जैसे महाड़ सत्याग्रह। महाड़ सत्याग्रह से ही यह संभव हुआ था कि सार्वजनिक जल- स्रोतों जैसे कुओं, हौद से दलितों को पानी पीने - लेने की स्वीकृति मिल सकी। क्रूर और दुखद सचाई थी कि महाराष्ट्र के चवडार हौज से हिंदुओं के साथ किसी भी धार्मिक मतावलम्बी को पानी लेने की इजाजत थी यही नहीं उनके पालतू पशु-पक्षी भी यहां आकर पानी पी सकते थे लेकिन तथाकथित अछूतों को इस हौज के पानी को छूने की अनुमति नहीं थी। महाड़ सत्याग्रह ने यह अन्याय समाप्त किया। लेकिन क्या अन्याय मिट गया? इसी के समानांतर 6 जून 2008 की भोपाल की खबर किताब में छपी है जिसके अनुसार हरदा के एक कंटाड़ा गांव में दलित प्रेमबाई को गांव के सार्वजनिक हैण्ड पम्प से पानी भरने के कारण जला दिया गया। कहना न होगा कि बाबा साहब अम्बेडकर के जीवन संघर्ष को जानना उनसे परिचित होना है। बहुत बड़े बौद्धिक और सिद्धांतकार अम्बेडकर से नई पीढ़ी का यह परिचय आवश्यक है। अपरिचय कटुता और बहुधा घृणा को जन्म देता है और घृणा से कोई समाज आगे नहीं बढ़ सकता। आइए देश को आगे बढ़ाने के लिए अम्बेडकर जैसे सामाजिक नेता और बौद्धिक को ठीक से जानने की शुरुआत करें।

पुस्तकः 'भीमायन'
लेखकः श्री विद्या नटराजन और एस. आनंद
प्रकाशकः एकलव्य, ई -10, शंकर नगर, बीडीए कॉलोनी, शिवाजी नगर, भोपाल
मूल्यः 210 रुपये

पीऊ की बात

सोरित गुप्तो को मैं नहीं जानता। भारत में बाल साहित्य के अग्रणी प्रकाशक नेशनल बुक ट्रस्ट (अब राष्ट्रीय पुस्तक न्यास) की किताबों का एक प्रमुख अवगुण यह है कि उनमें परिचय नहीं दिया जाता। सोरित गुप्तो की इस किताब की सुन्दर बात है - बच्चे का सपना। बारिश का मौसम है और पीऊ भीग गई है। मां ने उसे जबरदस्ती बिस्तर में सुला दिया। उसे नींद आ गई। नींद में सपना। सपना यह कि उसे एक पेन्सिल बॉक्स मिला। पेंसिलें उससे बात कर रही हैं। पेंसिलें इतनी जादुई हैं कि बादल बनाएं तो बरसात होने लगे। रबर ऐसा कि चले तो बादल मिटा दे। बस इतनी-सी बात। लेकिन क्या बात इतनी-सी है? क्या यह प्रकृति पर मनुष्य की विजय का सपना है? या कहीं यह सृजन का सपना तो नहीं है? हम अपने हाथ से बादल बनाएं। खेत में फसल उगाएं। सच्ची सृजनशीलता का सपना। किताब में कहानी के साथ सुन्दर चित्र चलते हैं जिन्हें खुद सोरित गुप्तो ने बनाया है। पांच से आठ साल के बच्चों के लिए यह किताब सपने के मार्फत नव निर्माण के अहसास की कवायद है। शाइर ने ऐसे ही नहीं कहा था- बच्चों के नन्हें हाथों को चांद सितारे छूने दो। चार किताबें पढ़कर ये भी हम जैसे हो जाएंगे। ◆

पुस्तकः 'पीऊ और उसके जादुई दोस्त'
कहानी और चित्र : सोरित गुप्तो
प्रकाशकः राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत नेहरू भवन, वसंत कुंज, नई दिल्ली-110070
मूल्यः 30 रुपये

लेखक परिचयः लगभग एक दशक से हिन्दी साहित्य का अध्यापन, हिन्दी की लघु पत्रिका 'बनास जन' के संपादक। संप्रतिः हिन्दू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय में साहित्य के प्राध्यापक हैं।

संपर्क : 8130072004; pallavkidak@gmail.com

R.N.I.No.RAJHIN/1999/359 शिक्षा विमर्श

टाटा एजुकेशन ट्रस्ट, मुम्बई के सहयोग से प्रकाशित

दिगन्तर शिक्षा एवं खेलकूद समिति, जयपुर के लिए सुश्री रीना दास द्वारा भालोटिया प्रिंटर्स, 1/398, पारीक कॉलेज रोड, जयपुर-302006 से मुद्रित एवं दिगन्तर, खो नागोरियान रोड, जगतपुरा, जयपुर-302017 से प्रकाशित